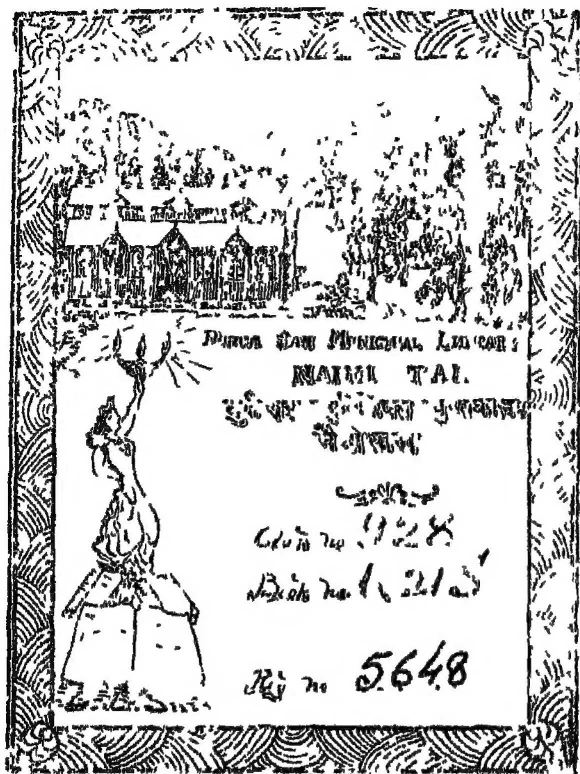

NAINI TAL.
5648

संस्कृत नाटककार

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—२५

संस्कृत नाटककार

लेखक
कान्ति किशोर भरतिया एम०ए०
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग,
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण
१९५२

मूल्य चार रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश की उन्नति एवं समृद्धि के लिए विविध योजनाएँ परिचालित की गयी हैं और उनके अनुसार काम भी तेजी से हो रहा है। परिणाम-स्वरूप कितने ही मामलों में हम आत्म-निर्भर हो गये हैं तथा अन्य क्षेत्रों में भी क्षिप्र गति से आगे बढ़ रहे हैं। राष्ट्र की उन्नति का यह क्रम तब तक सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता जब तक कि राजनीतिक, आर्थिक एवं व्यावसायिक उन्नति के साथ-साथ विश्व के ज्ञान-विज्ञान-भण्डार को भी राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम द्वारा पढ़े-लिखे लोगों की अधिक से अधिक संख्या तक पहुँचाने का तथा हिन्दी वाङमय के विविध अंगों की पूर्ति का व्यापक प्रयत्न नहीं किया जाता। हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के लेखकों तथा प्रकाशकों पर इसकी विशेष जिम्मेदारी है। इस दिशा में यद्यपि जहाँ तहाँ कुछ काम शुरू हो गया है किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इसमें अधिक तीव्रता लायी जाय जिससे २५-३० वर्ष का कार्य ५-६ वर्षों में ही पूरा किया जा सके। इसी से इस गुरुत्वपूर्ण आयोजन में यथोचित अंशदान करने की कामना से, उत्तर प्रदेश की सरकार ने सम्मानित विद्वानों एवं विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त कर हिन्दी समिति के तत्त्वावधान में विविध विषयों की कोई ३०० पुस्तकें, मौलिक तथा अनूदित, अल्प अवधि के भीतर ही प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इसके अनुसार दर्शन, ज्योतिष, राजनीति, संगीत, विज्ञान आदि की दो दर्जन पुस्तकें छपकर तैयार हो चुकी हैं तथा अन्य पुस्तकें भी प्रेस में दे दी गयी हैं या इस समय लिखी जा रही हैं।

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला की यह पचीसवीं पुस्तक है। इसके रचयिता श्री कान्तिकिशोर भरतिया एम० ए०, डी० ए० वी० कालेज कानपुर में संस्कृत विभाग के प्राध्यापक हैं। आपने बड़े परिश्रम से अत्यन्त सरल भाषा में इसे लिखा है। विश्व की प्राचीनतम रचना ऋग्वेद से लेकर आज तक के संस्कृत नाटकों के इति-

हास का सम्यक् विवेचन करते हुए आपने भास, कालिदास, शूद्रक, भवभूति आदि महाकवियों की कृतियों से अनेक अवतरण देकर उनके रचना-कौशल, चरित्र-चित्रण, कथानक आदि सम्बन्धी विशेषताओं तथा मनोहरताओं का वर्णन किया है। तुलनात्मक समीक्षा एवं विभिन्न नाटककारों के काल-निर्णय के सयुक्तिक प्रयत्न का समावेश होने से ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गयी है। आशा है, साहित्यानुरागी पाठकों को भरतिया जी की इस मनोरम रचना से यथेष्ट आनन्दानुभूति होगी और वे संस्कृत नाटकों एवं नाटककारों के इस तात्त्विक विवेचन से बहुलांश में लाभान्वित होंगे।

भगवतीशरण सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

प्रस्तावना

जब मेरे युवक आत्मीयजन श्री कान्ति किशोर भरतिया ने मुझसे कहा कि वे संस्कृत नाटककारों पर पुस्तक लिख रहे हैं तो अवश्य ही मुझे बड़ा आनन्द हुआ। उनका यह भी आग्रह था कि इसकी प्रस्तावना मैं लिखूं। इसे मैंने स्वीकार कर लिया, यद्यपि संस्कृत साहित्य का मेरा ज्ञान इतना कम है कि मैं उसके सम्बन्ध की पुस्तकों पर कुछ लिखने का साहस नहीं कर सकता। पीछे कान्ति किशोर जी ने मेरे पास अपनी पुस्तक की पाण्डुलिपि भेजी और पुरानी बात की याद दिलायी। मैं पाण्डुलिपि देख कर बहुत ही चकित हुआ। उसके कितने ही अध्याय मैं पढ़ भी गया और मैं कुशल लेखक को बधाई देना चाहता हूं कि इन्होंने हिन्दी संसार को ऐसी सुन्दर रचना भेंट की।

बहुत दिनों से संस्कृत भाषा साधारणतः मृतभाषा समझी जा रही है। इसके अध्ययन और अध्यापन का क्षेत्र बहुत ही सीमित रहा है। उन सब पंडितों के प्रति हम सब को अनुगृहीत होना चाहिए जिन्होंने घोर संकट और अंधकार के समय भी हर प्रकार की असुविधा झेलते हुए और स्वयं दारिद्रय की कठिनाइयां उठाते हुए केवल धार्मिक ग्रंथों की ही नहीं, हमारे संस्कृत के काव्यों को भी कण्ठस्थ करके उनकी रक्षा की। जन साधारण ने तो संस्कृत भाषा और साहित्य का सम्मान करते हुए भी उसकी ज्ञान-प्राप्ति की चिन्ता छोड़ दी थी। वास्तव में लौकिक दृष्टि से इससे किसी प्रकार की आशा नहीं रही। तथापि हमारे सब धार्मिक और सामाजिक कृत्य प्रायः संस्कृत भाषा द्वारा ही सम्पन्न होते रहे। इस कारण बहुत से संस्कृतज्ञों की जीविका चलती रही और स्थान-स्थान पर संस्कृत पाठशालाओं का क्रम भी जारी रहा। आधुनिक विद्यालयों में कतिपय विद्यार्थीगण अपनी द्वितीय भाषा के रूप में इसे पढ़ते रहे। सौभाग्यवश बहुत से यूरोपीय विद्वान् भी उसकी तरफ आकृष्ट हुए और उन्होंने रूढ़िवादी पंडितों के विरोध का भी सामना करके

इसे सीखा और इसका प्रचार किया। इस पर आधुनिक पद्धति के शिक्षित भारतीयों का भी ध्यान उधर गया, क्योंकि हमारी ऐसी अवस्था हो गयी थी कि जब विदेशी हमारी किसी बात को पसन्द करते थे तो हम भी उसे पसन्द करने लगते थे। इन सब कारणों से यह भाषा बची रही जिसके लिए हम सब लोगों को ही कृतज्ञ होना चाहिए।

जब से स्वराज्य मिला है तब से चारों तरफ इस बात का विचार होने लगा कि हम को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता से ही संतुष्ट नहीं होना चाहिए। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अंग में हमें स्वाधीन बनना चाहिए। अवश्य ही पुरानी परम्पराओं की तरफ विचारवानों का ध्यान आकृष्ट हुआ और कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हम अपने पुराने गीत, नृत्य, वाद्य, साहित्य आदि की तरफ ध्यान देने लगे और अपने इन अमूल्य सांस्कृतिक आधारों की खोज में पड़े। हम यह देखकर चकित हुए कि इन सब विषयों में हमारा भंडार इतना परिपूर्ण है और कुछ लोग प्रतिकूल परिस्थितियों में भी इसे बनाये हुए हैं। देश और समाज के भविष्य के लिए ये बहुत सुखकर चिह्न हैं। इससे हमारा यह विश्वास पुष्ट होता जा रहा है कि हम स्वतंत्र जाति के रूप में किन्हीं पाश्चात्य विदेशों की नकलमात्र न रहेंगे पर हम भी कुछ विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए संसार के विचारों और संसार के कार्यों में स्थायी एवं उपयोगी अंशदान कर सकेंगे।

इस सब दृष्टि से मैं श्री कान्ति किशोर भरतिया जी की इस पुस्तक का सादर स्वागत करता हूं। साहित्य के जिस अंग को हम साधारणतः नाटक कहते हैं, जिनके बहुत से भेद और उपभेद होते हैं, उसकी विवेचना बड़ी सूक्ष्मता और विद्वत्ता के साथ हमारे योग्य लेखक ने इस पुस्तक में की है। इसमें उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य के इस प्रभावशाली अंग का वर्णन किया है। पुस्तक अत्यन्त मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। मैं आशा करता हूं कि बहुत से लोग इससे लाभ उठावेंगे और उसके द्वारा संस्कृत के सौन्दर्य को समझेंगे तथा उसके अध्यापन का प्रबन्ध करने पर उद्यत होंगे।

हमारे योग्य प्रतिभाशाली लेखक ने अपने विषय का संक्षिप्त परिचय देते हुए संस्कृत के नाटक-साहित्य की विशेषताएं दिखलायी हैं। उसका आरम्भ से

आज तक का इतिहास बताया है और उदारता सहित यह भी दिखाया है कि इस साहित्य पर दूसरे साहित्यों का और दूसरे साहित्यों पर इसका क्या प्रभाव पड़ा है। ऋग्वेद तक की चर्चा करके उसके स्रोत को उन्होंने खोजा है। विभिन्न नाटककारों की जीवनी और समय के आचार-विचार की विवेचना करके थोड़े में बड़े-बड़े नाटककारों की कृतियों की कथा भी उन्होंने बतला दी है। जिन लोगों का इस साहित्य से अभी तक कोई परिचय नहीं रहा है उनको उन्होंने बहुत रोचक रूप से आकृष्ट किया है और वर्तमान नाटककारों का भी परिचय दे कर इस बात को प्रमाणित किया है कि वास्तव में संस्कृत मृतभाषा नहीं समझी जा सकती। यदि कुछ लोग आधुनिक पाश्चात्य प्रभावों में आकर इसे मृत मानने भी लगे हों, तो भी अधिकतर लोगों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसकी तरफ आकर्षण बना है। इस कारण अब भी इस प्राचीन दैवी भाषा में हर प्रकार के गद्य और पद्यग्रंथ लिखे जा रहे हैं। इस समय भी परस्पर के विचार-विनिमय के लिए बहुत लोग इसका प्रयोग करते हैं, और आज भी नाटककार मौजूद हैं जो अपनी सुन्दर कृतियों से इसके भंडार की वृद्धि करते जाते हैं।

मुझे तो इस पुस्तक को देख कर बहुत ही आनन्द हुआ, और मैं श्री कान्ति किशोर भरतिया जी का हृदय से कृतज्ञ हूं कि उन्होंने मेरा इतना सम्मान किया कि इसकी प्रस्तावना लिखने का शुभ अवसर दिया और साथ ही मुझे ऐसे बहुत से नाटककारों से परिचित करवाया जिनसे मैं अभी तक दूर-दूर ही था। मेरी यह हार्दिक आशा और अभिलाषा है कि इस पुस्तक के लेखक को सुयश मिले और वे हिन्दी साहित्य की वृद्धि करते हुए मूल भाषा संस्कृत की तरफ दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक नर-नारियों को आकृष्ट करें।

श्रीप्रकाश "पद्मविभूषण"

बम्बई राज्यपाल शिविर,
१९ अक्टूबर, १९५७

भूमिका

जब मेरे नवयुवक मित्र श्री कान्तिकिशोर भरतिया ने मुझसे कहा कि वे संस्कृत सम्बन्धी किसी ग्रंथ का प्रणयन करना चाहते हैं और "संस्कृत-नाटककार" उन्होंने अपना विषय निर्धारित किया है तो मैंने उनके इस विचार का बहुत अनुमोदन किया और विषय के महत्त्व को देखते हुए उनको प्रेरणा की कि वे उस पर अवश्यमेव अपना ग्रंथ निर्माण करें। उन्होंने पुस्तक जिस वैज्ञानिक ढंग से लिखी है, प्रत्येक पृष्ठ उसका साक्षी है। लेखन-कार्य में संलग्न रहने के अवसर पर मध्य-मध्य में श्री भरतिया जी मुझसे परामर्श लेते रहते थे और पुस्तक को उपयोगी और विचारपूर्ण बनाने में मैं उनको यथासम्भव परामर्श भी देता रहता था।

पुस्तक के पूर्ण होने पर उन्होंने उसकी पाण्डुलिपि मुझे दिखायी और मैंने उसका सम्यक् अध्ययन किया। उनका यह भी आग्रह था कि इस पुस्तक की भूमिका मैं लिखूं। पाण्डुलिपि के अध्ययन करने के उपरान्त मैंने अनुभव किया कि विषय की उपयोगिता और वैज्ञानिक ढंग से उसके निरूपण के उपरान्त मेरी भूमिका की कोई आवश्यकता नहीं। संस्कृत साहित्य के विशेष मर्मज्ञ एवं बम्बई प्रदेश के राज्यपाल श्रीयुत श्रीप्रकाश जी की प्रस्तावना के बाद मैं यह कल्पना नहीं कर सकता कि मेरी भूमिका कहां तक लाभदायक होगी। जब सुयोग्य लेखक ने कई बार आग्रह किया और अपना स्वाभाविक स्नेह दिखाते हुए मुझसे प्रार्थना की तो मैं उनके इस आग्रह को अस्वीकार न कर सका। मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूं कि ऐसे ग्रंथ की भूमिका लिखने का मुझे शुभ अवसर मिला जिसके लिए मैं लेखक का हृदय से कृतज्ञ हूं।

जैसा कि हमारे सुयोग्य राज्यपाल महोदय ने संकेत किया है, बहुत दिनों से भ्रमवश संस्कृत एक मृत भाषा समझी जाती है। उसके अध्ययन और अध्यापन का क्षेत्र बहुत दिनों से संकीर्ण चला आया है। संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा

है और हम दावे के साथ कह सकते हैं कि हमारे देश की नैतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकता को स्थिर रखने में यह बहुत सहायक सिद्ध हुई है। यह भाषा ज्ञान की अपार निधि है और सदा से ही मानवमात्र इससे आशातीत लाभ उठा रहा है।

यह भाषा हमारे देश की अनुपम, अलौकिक, साहित्यिक निधि है। ज्ञान की अपरिमित राशि के रूप में सदा से ही हमें यह अनुपम स्फूर्ति देती चली आयी है। देववाणी के गौरवमय पद पर आरूढ़ होकर आज भी यह एक अलौकिक चमत्कार प्रकट कर रही है। हमारे समस्त संस्कार एवं धार्मिक कृत्य इसी भाषा में सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृत सदा से जीवित-जाग्रत भाषा रही है और रहेगी।

हम जब इस भाषा के इतिहास की ओर दृष्टिपात करते हैं और विदेशियों द्वारा इस पर किये गये महान् कुठाराघातों का अध्ययन करते हैं तो इस भाषा की स्थिरता, जाग्रति, जीवन एवं महत्व स्वयमेव आभासित हो जाता है। प्राचीन काल से ही संस्कृत भारत में जनसाधारण की परस्पर बोलचाल की भाषा रही है और यवनों के आक्रमण के पूर्व तक इसको प्रत्येक प्रकार का राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था। उनके आगमन के अनन्तर शनैः-शनैः विदेशी भाषा के प्रचार और इसकी अवनति के लिए प्रयत्न किये जाने लगे। इस काल में मौलिक ग्रंथों का सर्जन अवरुद्ध सा हो गया और बड़े-बड़े साहित्यकार भी टीकाग्रंथों के निर्माण तक अपने आप को सीमित रखने लगे। इस भाषा के सामने उस महाविपत्ति के समय क्या-क्या कठिनाइयां उपस्थित हुईं और महासंक्रान्ति के काल में किस प्रकार इसके साहित्य की रक्षा की गयी, इन सब बातों का यहां उल्लेख करना अनावश्यक ही जान पड़ता है। उस समय जनसाधारण ने तो इसके पठन-पाठन की चिन्ता भी त्याग दी। उस घोर संकट के समय संस्कृत के विद्वानों ने दारिद्रय की कठिनाइयों एवं संकटों का सामना करते हुए ग्रंथों को कंठस्थ करके इसकी रक्षा की। उस समय भी हमारे समस्त धार्मिक कृत्य इसी भाषा में सम्पन्न होते रहे तथा संस्कृतज्ञों की जीविका का उपार्जन भी होता रहा।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी ई० में हमारे भारत देश का यूरोप से घनिष्ठ वाणिज्य-सम्पर्क स्थापित हुआ और यूरोपवासियों का इस प्राचीन समृद्धशाली

साहित्य से प्रथम साक्षात्कार सम्पन्न हुआ। वे शीघ्र ही इस भाषा के अलौकिक चमत्कार एवं महत्त्व से प्रभावित हो गये और इसके अध्ययन के प्रति उनका अनुराग शनैः-शनैः बढ़ने लगा। परिणामतः पाश्चात्य वैज्ञानिक ढंग पर इस भाषा के अध्ययन का श्रीगणेश हुआ और विदेशियों ने रूढ़िवादी पंडितों का विरोध करके भी इस भाषा से लाभ उठाया। उस समय विदेशियों के प्रभाव से हमारी मनोवृत्ति इतनी दूषित हो गयी थी कि जिस बात को वे पसन्द करते थे हम भी ब्रह्मवाक्य के समान उस पर मुग्ध हो जाते थे। संस्कृत वाङमय का यह अनुपम गुण था जिसके कारण यह भाषा किसी के प्रभाव से किंचिन्मात्र भी प्रभावित न होकर अपनी मूलदशा में ज्यों की त्यों आज तक विद्यमान रही।

श्री कान्तिकिशोर भरतिया ने काव्य के उस अंग का अपने ग्रंथ में समावेश किया है जिसे हम साधारणतः नाटक कहते हैं। जैसा कि सुयोग्य लेखक ने अपने ग्रंथ के प्रथम अध्याय "संस्कृत में नाटक साहित्य" में बताया है, प्राचीन आचार्यों ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो रूप माने हैं। देखे और सुने जाने, दोनों की क्षमतावाले नाटक-साहित्य को दृश्यकाव्य कहते हैं। यह काव्य का सुमनोहरतम रूप है और उसकी आत्मा रस का मूल स्रोत है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने इसे दुःखपूर्ण संसार के क्लेशों की मुक्ति का एक साधन माना है। भरतमुनि द्वारा वर्णन किये हुए भारतीय प्रेक्षागृह एवं रंगमंच का सविस्तार वर्णन कर यह तथ्य प्रमाणित किया गया है कि भवननिर्माण-कला तथा अभिनय का ज्ञान भरत के काल में बहुत अधिक मात्रा में विद्यमान था।

जिस प्रणाली में लेखक ने अपना ग्रंथ प्रस्तुत किया है मैं उसका सादर स्वागत करता हूं। इस पुस्तक का विषयारम्भ ऋग्वेद में पाये जानेवाले नाटकीय आख्यानों से होता है। ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम ग्रंथ है और नाना प्रकार के सत्य सिद्धान्तों का इसमें समावेश है। ऋग्वेद का काल-निर्णय संस्कृत साहित्य की बड़ी जटिल समस्या है जिसका पूर्णरूपेण समाधान अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। लेखक ने संसार के विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये अनुसंधान पर प्रकाश डालते हुए समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद के ये आख्यान नाटक-साहित्य के प्राचीनतम रूप हैं यद्यपि आधुनिक काल में पाये जानेवाले नाटकों से इनका रूप सर्वथा भिन्न

है। ऋग्वेद के ११ सूक्तों का उल्लेख किया गया है जिनमें यह नाटकीय रूप मिलता है। यह आरम्भिक रूप केवल संवाद मात्र ही हैं जो कुछ विद्वानों के मतानुसार परस्पर मंत्रों के ऋषियों में या उनमें वर्णित प्राकृतिक शक्तियों अथवा व्यक्तियों के मध्य में हुए हैं।

श्री भरतिया जी ने इसके बाद संस्कृत के प्रमुख नाटककारों का समावेश किया है जिनमें सर्वप्रथम महाकवि कालिदास द्वारा कविकुलगुरु के रूप में सम्मानित महाकवि भास हैं। सन् १९०९ ई० में त्रावणकोर राज्य में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करते हुए महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने आपके रचे हुए १३ ग्रंथों का पता लगाया, आपका अस्तित्व ही हमारे सामने एक विषम समस्या के रूप में उपस्थित हो गया है। अब तक पाये जानेवाले विभिन्न मतों का सामंजस्य करके लेखक ने सत्यता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।

सम्राट् महाकवि शूद्रक कृत मृच्छकटिक भी अपने प्रकार का एक अनुपम ग्रंथ है। यह प्रकरण अपने सर्जनकाल में पायी जानेवाली हमारे देश की सामाजिक दशा पर विस्तृत प्रकाश डालता है। शूद्रक के उपरान्त संस्कृत नाटकक्षेत्र में काव्य के अत्यन्त देदीप्यमान रत्न महाकवि कालिदास उपस्थित होते हैं। कालिदास न केवल संस्कृत साहित्य के अपितु संसार के समस्त साहित्य में सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उनकी अमर रचना अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट नाट्य रचना है। महाभारत में पायी जानेवाली आदिपर्व के अन्तर्गत शाकुन्तलोपाख्यानम् की मूलकथा में कालिदास ने नाट्यचातुर्य व्यक्त करते हुए अनेक मौलिक परिवर्तन किये। वे आज भी उनकी प्रतिभा के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पशु-पक्षियों एवं प्रकृति के अन्य पदार्थों का मानवीयकरण, जैसा कि कालिदास ने उक्त नाटक में चित्रित किया है, संस्कृत साहित्य के इतिहास में अलौकिक घटना है। हमारे प्रतिभाशाली लेखक ने इन सब विषयों का रोचक ढंग से समावेश कर ग्रंथ के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में ऐसे अनेक स्थल उपस्थित किये हैं जिनको विदेशी विद्वानों ने नाटकीय अभिनय के लिए अनुपयुक्त बताया है। लेखक ने ऐसे समस्त स्थलों की विवेचना कर संस्कृत रूपकों की अभिनेयता प्रमाणित की है।

कालिदास के पश्चात् सम्राट् महाकवि हर्षवर्द्धन की काव्यकला एवं नाटक-रचना संबंधी प्रतिभा का उल्लेख कर देना असंगत न होगा। पाश्चात्य विद्वान् तो भारतीय नरेशों की विलासप्रियता पर दृष्टिपात करके किसी सम्राट् को नाटककार के रूप में स्वीकार करना कोरी कल्पना-मात्र ही समझते हैं। इस विषय पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाल कर विदेशी आलोचकों का भ्रम निवारण करते हुए सम्राट् की नाटक-रचना-संबंधी प्रतिभा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

भवभूति ने अपनी अलौकिक कृति उत्तररामचरित में शृंगार और वीर रस को नाटक में प्रधान रस बनाने की परम्परा का उल्लंघन करके करुण रस को प्रधान बनाया है। वेणीसंहार के नायक-निर्णय का विवादास्पद प्रश्न भी संस्कृत के साहित्यज्ञों के समक्ष चिरकाल से विचाराधीन है। विभिन्न आलोचक अपने-अपने विचार के अनुसार भीम, युधिष्ठिर अथवा दुर्योधन को इसका नायक मानते हैं। लेखक ने नाटक के नाम की व्युत्पत्ति करते हुए उसके आधार पर भीम को ही नायक प्रमाणित किया है।

विशाखदत्त ने तो अपनी एकमात्र कृति मुद्राराक्षस नाटक में रसप्रधान होने की सनातन नाट्य-परम्परा का उल्लंघन कर उसे शुद्ध घटना-प्रधान होने का रूप दिया है। यह चरित्र-चित्रण में भी अपनी अनुपम छवि प्रकट करता है। श्रीयुत भरतिया जी ने इस नाटक के मौलिक गुणों का विवेचन करते हुए नाटककार द्वारा अपनायी हुई एक नवीन परम्परा को प्रमाणित किया है। इतिहास के सुप्रसिद्ध आख्यान को नाटकीय रूप प्रदान करना कवि की विशेष प्रतिभा है। राजनीति और कुटिल नीति का मंच पर कैसे अभिनय हो सकता है, इस नाटक के देखने से ही विदित होता है।

इन अध्यायों के अनन्तर लेखक ने मुरारि, राजशेखर तथा अन्य अनेक सामान्य महत्त्व के अर्वाचीन नाटककारों का उल्लेख किया है और अपने विषय का मनोहर ढंग से प्रतिपादन भी किया है। अन्त में आधुनिक काल या वर्तमान शताब्दी में रचे हुए संस्कृत नाटकों की विवेचना करने के उपरान्त ग्रंथ उपराम को प्राप्त होता है। यह प्रसन्नता की बात है कि वर्तमान समय में भी संस्कृत के ऐसे कलाकार विद्यमान हैं जिनकी रचनाओं का तनिक-सा भी अध्ययन करने से हमको विदित

हो जाता है कि विदेशियों के सहस्र वर्ष के सतत सम्पर्क एवं उनके द्वारा पददलित करने के अनेक प्रयत्नों के उपरान्त भी इस दैवी भाषा की स्वतंत्र प्रगति में पूर्ण-रूपेण अवरोध सम्भव नहीं हो सका है।

इस प्रकार प्रतिभासम्पन्न लेखक ने संसार के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद से लेकर आधुनिक काल तक के नाटककारों का संक्षिप्त परिचय दिया है। साथ ही साथ काव्य के अन्य अंगों पर पड़े हुए इस साहित्य विशेष के परिणामों का भी ग्रंथ में संक्षेप से समावेश किया गया है।

मैं आशा करता हूं कि यह ग्रंथ सामान्य रूप से समस्त साहित्य-प्रेमी भाई-बहिनों के हेतु तथा विशेषतः विद्यार्थी-समुदाय के लिए यथेष्ट लाभकारी सिद्ध होगा तथा चिरकाल तक साहित्य-रसिक इससे आनन्द ग्रहण करते रहेंगे।

(डा०) हरिदत्त शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी०, एकादशतीर्थ

अध्यक्ष संस्कृत विभाग
दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज,
कानपुर

निवेदन

बहुत दिनों से मेरी यह उत्कट अभिलाषा थी कि मैं संस्कृत-प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में ऐसी कोई भेंट समर्पित करूं जो उनकी साहित्यिक पिपासा को शान्त कर उनकी ज्ञान-वृद्धि का साधन बन सके। इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके मैंने इस ग्रन्थ का निर्माण किया है।

संस्कृत नाटककार की रचना द्वारा मैंने साहित्यानुरागी जनता को संस्कृत के विशाल नाटक-साहित्य से अवगत करवाने का प्रयास किया है। विषय की महानता और विशालता को देखते हुए ग्रन्थ में उसका केवल संक्षेप में संकेतमात्र ही हो सका है। बम्बई प्रदेश के सुयोग्य राज्यपाल आदरणीय बाबू श्री प्रकाश जी ने अपने जन्मजात सौजन्य का परिचय देते हुए ग्रन्थ की प्रस्तावना, अतुलित राज्यकार्य में व्यग्र रहकर भी, लिख कर लेखक का जितना उत्साह बढ़ाया है उसका वर्णन करना लेखनी की शक्ति से परे है। लेखक अपने बाल्यकाल से ही उनका स्नेहभाजन रहा है और इस अतिशय उदारता के लिए हृदय से उनका आभार प्रदर्शित करते हुए धन्यवाद देता है।

जब से हमारे देश ने स्वतंत्रता प्राप्त की है, हमारी राष्ट्रीय लोकप्रिय सरकार ने देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए अनेक प्रकार की योजनाएं बनायी हैं जिससे देश की आशातीत प्रगति हुई है। उन सबका सविस्तार वर्णन करना यहां अप्रासंगिक होगा।

उन्हीं योजनाओं के साथ-साथ हमारी उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने हिन्दी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रचार के लिए हिन्दी-प्रकाशन योजना बनायी है जिसके अनुग्रह के फलस्वरूप यह ग्रन्थ मुझे पाठकों को समर्पित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। मैं इस योजना के कर्णधार श्री पण्डित कमलापति जी त्रिपाठी, मंत्री गृह, शिक्षा, एवं सूचना-विभाग उत्तर प्रदेश तथा हिन्दी समिति के अध्यक्ष

एवं सचिव का विशेष रूप से कृतज्ञ हूं जिन्होंने उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन का समुचित प्रबन्ध कर लेखक का उत्साह बढ़ाया है।

मैं आशा करता हूं कि उक्त समिति हिन्दी के विकास एवं प्रचार के साथ-साथ संस्कृत के महत्त्व को भी सम्यक् रूप से समझ कर उसके लुप्त गौरव के पुनरुद्धार के लिए सतत रूप से प्रयत्नशील होगी।

संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डाक्टर हरिदत्त शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, एकादशतीर्थ ने ग्रन्थ-निर्माण करते समय मुझे अपना बहुमूल्य परामर्श दिया है और पुस्तक के पूर्ण हो जाने पर भूमिका लिखकर अपना सहज स्नेह व्यक्त कर ग्रन्थ के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है। मैं उनके इस कार्य से विशेष रूप से अनुगृहीत हूं। लेखन-कार्य में मुझे सबसे अधिक सहायता स्थानीय डी० ए० वी० इन्टर कालेज के संस्कृताध्यापक पं० वेदव्रत स्नातक से मिली है जिनके समीप ही मैंने संस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया था। इसके अतिरिक्त हमारे कालेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डाक्टर मुन्शीराम शर्मा, सोम एम० ए०, डी० लिट्० तथा सनातन धर्म कालेज के प्राध्यापक पं० विश्वनाथ गौड़ ने अपना बहुमूल्य समय देकर मुझे बहुत अधिक सीमा तक उत्साह प्रदान किया है। मैं उक्त समस्त महानुभावों का आभार प्रकट करना अपना परम पुनीत कर्तव्य समझता हूं।

सम्भव है कि ग्रन्थ में कुछ न्यूनताएं रह गयी हों और उनका दूर करना आवश्यक हो। प्रत्येक कार्य में सुधार का सदा स्थान रहता है जो इस ग्रन्थ में भी विद्यमान है। विद्वानों की सहायता के बिना यह सम्भव नहीं है अतः मेरी प्रत्येक मननशील विद्वान् भाई व विदुषी बहिन से प्रार्थना है कि निस्संकोच भाव से इस ग्रन्थ की न्यूनताओं को मुझे सूचित कर दें ताकि भविष्य की आवृत्तियों में ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बनाया जा सके। मैं आशा करता हूं कि यह ग्रन्थ साहित्यानुरागी जनता के विशेष लाभ का सिद्ध होगा और यदि इससे संस्कृत साहित्य अथवा जनवर्ग को तनिक भी लाभ हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

संस्कृत विभाग
दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज, कानपुर

कान्ति किशोर भरतिया

१. संस्कृत में नाटक-साहित्य

संस्कृत भाषा एवं साहित्य विश्व-भाषा तथा साहित्य के प्रति हमारे देश की एक अनुपम सांस्कृतिक देन है। सभ्यता के उद्गम के प्राचीन काल से ही उसमें हमारे देश की दार्शनिकता और भाव-गाम्भीर्य की अलौकिक झलक मिलती है। देव-वाणी के महान् पद पर विभूषित होकर आज भी वह सहस्रों भारतीय जनों के हृदयों में गौरवान्वित हो रही है। हमारा धार्मिक जीवन इस कथन का ज्वलन्त व प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करता है। हमारे समस्त धार्मिक कृत्य इसी भाषा में सम्पन्न होते हैं। संस्कृत के इस लोक-व्यापी प्रचार का एक महान् कारण इसके साहित्य और नाटकों की सुमनोहरता एवं रोचकता है। काव्य द्वारा ही मनुष्य के हृदय में रस-रूप आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। एक सरस व्यक्ति को काव्य के मनन व रसास्वादन से जो आनन्द की अनुभूति एवं प्रसन्नता होती है उसका ब्रह्मानन्द से केवल इतना ही अन्तर होता है कि ब्रह्मानन्द के समान यह पूर्णतः संसार से विरक्त नहीं कहा जा सकता।

काव्य के दो प्रधान भेद होते हैं, श्रव्य और दृश्य। जो काव्य केवल सुना जा सके वह श्रव्य काव्य कहलाता है। गद्य, पद्य और चम्पू इसके तीन भेद होते हैं। देखे और सुने जाने दोनों की ही क्षमतावाले काव्य को दृश्य काव्य कहते हैं। रूपक और उपरूपक इसके दो भेद होते हैं। आचार्यों ने इनके और विभाग कर रूपक के दश और उपरूपक के अठारह भेद किये हैं। हिन्दी भाषा में इन समस्त भेदों को साधारणतः नाटक कह देते हैं पर वस्तुतः नाटक रूपक का एक भेद मात्र ही है।

रूपक दृश्य काव्य का प्रधान भेद है। इस काव्य का आनंद ग्रहण करने में नेत्र और श्रवण दोनों प्रमुख ज्ञानेन्द्रियों को समान रूप से अवसर मिलता है। श्रव्य काव्य की अपेक्षा, जिसमें केवल कर्णेन्द्रिय आनन्द का आस्वादन ग्रहण करती है,

इसमें पाठकों की कल्पना-शक्ति पर बहुत कम बल पड़ता है। दो इन्द्रियों के माध्यम के कारण नाटक-साहित्य अपेक्षया अधिक प्रभावोत्पादक हो जाता है। श्रव्य काव्य का आनन्द ग्रहण करने में तो केवल विद्वान् एवं साहित्यिक जन ही मुख्यतः समर्थ होते हैं परन्तु इस रोचक दृश्य काव्य नाटक-साहित्य का रसास्वादन करने में बालक, वृद्ध एवं अशिक्षित जन, सभी सामान्य रीति से प्रभावित होते हैं, यद्यपि उसकी मात्रा उनमें योग्यतानुसार न्यूनाधिक हो सकती है। सूक्ष्म की अपेक्षा मूर्त वस्तु सदैव अधिक प्रभावोत्पादक होती है। मनुष्य द्वारा किया गया वर्णन चाहे जितना रोचक और विस्तृत हो, परन्तु चित्र के सम्मुख वह किसी प्रकार नहीं ठहर सकता।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, नेत्र और श्रवण दोनों ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम द्वारा इस अनुपम दृश्य काव्य नाटक की रसानुभूति होती है। इसमें सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह सब होते हुए भी यह बाह्य जगत से सर्वथा सम्बन्धित रहता है और साथ ही साथ यह भाव-जगत् एवं काव्य की आत्मा रस का मूल स्रोत भी होता है। नाट्य-शास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत मुनि ने इस काव्य-विशेष को क्लेशपूर्ण संसार के दुःख-विनाश का साधन समझते हुए तीनों लोकों के भावों का अनुकरण बताया है, "त्रैलोक्यस्य सर्वस्य हि नाट्यं भावानुकीर्तनम्" (भरत नाट्य-शास्त्र १।१०४)। यद्यपि गीत-काव्य में भावों की विद्यमानता रहती है तथापि उसमें व्यापक मानवता का इतना प्राबल्य नहीं रहता। नाटक का भावानुकीर्तन लोकवृत्तानुकरण पर ही अवलम्बित है। दशरूपककार धनञ्जय के अनुसार, नाटक अवस्थाओं की अनुकृति है जब कि साहित्य-दर्पणकार पं० विश्वनाथ के मत के अनुकूल रूप के आरोप के ही कारण यह रूपक कहलाता है। दोनों ही मतों के अनुसार दृश्य काव्य भावानुकीर्तन है।

संस्कृत नाटक-साहित्य में एक प्रमुख विशेषता यह है कि ऊरुभंग, कर्णभार आदि दो-एक नाटकों को छोड़कर प्रायः अन्य समस्त नाटक-साहित्य सुखान्त ही है। सुखान्त होने की यह सार्वभौम प्रतिक्रिया एक विशेष महत्त्व रखती है। संस्कृत नाटकों की यूरोप के नाटकों से तुलना करने पर यह एक विशेष भिन्नता दिखलाई पड़ती है। कीथ ने इस प्रथा को संस्कृत साहित्य की एक बड़ी कमी माना है।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार सुखान्त नाटक या 'कामेडी' व्यक्तियों के आनंद से सम्बन्ध रखती है और हम उनकी विभिन्न मनोवृत्तियों एवं सामाजिक कुरीतियों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसके विरुद्ध दु:खान्त नाटक या 'ट्रेजेडी' में जीवन का गम्भीर पक्ष स्वयमेव आभासित होता है और वह (ट्रेजेडी) जीवन के गम्भीर, उन्नत एवं महत्त्वपूर्ण पक्ष से सम्बन्ध रखती हुई हृदय के अन्तरतम केन्द्र को प्रभावित करती है। महाप्राणता इसके लिए आवश्यक है और गौरवान्वित राष्ट्र में ही उसका समुचित आदर हो सकता है।

अब हमारे कतिपय भारतीय विद्वानों का भी इस विषय में मत जान लेना आवश्यक है। उनका कथन है कि दु:खान्त ग्रंथ निम्न कोटि के परिचायक होते हैं। पाठकों और दर्शकों के सम्मुख नृशंसता एवं बर्बरता के चित्र निस्संकोच रूप से उपस्थित किये जाते हैं। वध एवं मारकाट के दृश्य पाठकों के सम्मुख दिखाये जाने से लोगों में क्रूरता एवं बर्बरता का उद्भव होना स्वाभाविक ही है। इस अनुभूति से विकृत स्वभाव होकर लोगों में हिंसात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होकर सामाजिक अधोपतन का कारण बन सकती है। इस विचार को लक्ष्य में रखते हुए हमारे प्राचीन मनीषी विद्वानों ने समस्त नाटक-साहित्य को सुखान्त ही रखने का प्रयत्न किया।

इन दोनों मतों के विरुद्ध कतिपय विद्वानों की धारणा है कि नाटक के सुखान्त एवं दु:खान्त होने का भेद नितान्त कृत्रिम और महत्त्वशून्य है तथा इसका नाटक पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक नाटक में भिन्न स्थलों पर सुखान्त और दु:खान्त वृत्तियों का समावेश किया जाता है। आशावादी एवं निराशावादी नाटकों को भी इन नामों से विभक्त किया जा सकता है। इस कसौटी के अनुसार आशा-वादी नाटक ही पूर्ण सुखान्त एवं निराशावादी ही पूर्णतया दु:खान्त हो सकता है। सुखान्त ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि वह संसार की परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त को वास्तविक रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। अन्त में सुखान्त प्रदर्शित करने के लिए नाटक के मध्य में दु:खान्त वृत्तियों का यथास्थान समावेश किया जाता है जिसकी कल्पना कर पाठक संसार के क्लेशों का अपने सम्मुख चित्रण देखते हैं। जिस प्रकार सघनतम निशा के उपरांत रमणीक एवं आल्हादक सूर्योदय

की आशा की जाती है उसी प्रकार महाभयावह परिस्थिति के उपरांत भी मनुष्य आशा करता है कि वह इस विषम संकट को पार कर पुनः सुखमय जीवन यापन करने में समर्थ हो सकेगा। दुःखान्त परिस्थितियों के उपरांत जब नाटक के अन्त में उसकी सुखमय समाप्ति होती है, पाठकों के समक्ष उपर्युक्त सिद्धान्त का सजीव चित्रण स्वतः उपस्थित होता है।

महाकवि कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक संस्कृत रूपक-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। उसके अध्ययन और मनन से विदित होता है कि उस नाटक में कथित सिद्धान्त का बड़े ही मार्मिक रूप में निरूपण किया गया है।

पंचम अंक में कवि ने दुःखान्त वृत्तियों का सागर ही हमारे समक्ष उड़ेल दिया है। जिस समय महाराज दुष्यंत अपनी गर्भिणी पत्नी शकुन्तला को अंगीकार करना अस्वीकृत कर देते हैं, हम सहज ही उस अबला अभागिनी की मनोव्यथा की कल्पना कर सकते हैं। उस दृश्य का अवलोकन कर प्रत्येक सहृदय का अन्तः-करण द्रवीभूत हो जाता है। ऐसे दुःखद दृश्य का अवलोकन करने के उपरांत कवि ने नाटक का जो सुखमय पर्यवसान किया है उसका शकुन्तला-त्याग से दुखी दर्शकों की मानसिक अवस्था पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रंथों का अवलोकन करने से विदित होता है कि इस सिद्धान्त को कवियों ने अधिकांशतः अपनाया ही है। कुछ नाटकों में मृत्यु की सूचना हमें अवश्य मिलती है जिनमें वेणीसंहार और ऊरुभंग प्रमुख हैं। दोनों का ही कथानक समान है। वेणीसंहार में दुर्योधन की मृत्यु की सूचना कंचुकी द्वारा मिलती है और ऊरुभंग में मृत्यु रंगमंच पर अभिनीत होती है। दुर्योधन जैसे दुष्ट की मृत्यु से दुःख न होकर सुख ही होता है। वेणीसंहार में सूचना मिलने से नियम का पालन हो जाता है, जब कि ऊरुभंग अपवाद कहा जा सकता है। महामहोपाध्याय पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित वर्तमान काल में एक प्रसिद्ध संस्कृत नाटककार हैं। उन्होंने अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति 'भारत-विजय' नाटक में कई स्थलों पर भारतीय सैनिकों द्वारा अंग्रेज विदेशियों का वध रंगमंच पर अंकित किया है। स्वाधीनता-संग्राम में जिस समय हमारे देशवासियों को नाना प्रकार की यातनाएँ दी जा रही थीं विदेशियों का वध बहुतों के लिए प्रसन्नतासूचक ही था। इस प्रकार

नाटककार ने संस्कृत में एक नवीन प्रणाली का उन्नयन करते हुए भरत मुनि के अभिप्राय के प्रतिकूल आचरण नहीं किया।

न केवल संस्कृत नाटक साहित्य, अपितु समस्त संस्कृत साहित्य के प्रत्येक अंग पर रस का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यहां तक कि विश्वनाथ का कथन है कि "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" अर्थात् रस ही काव्य की सर्वप्रधान आत्मा है। रस के अभाव में काव्य का सर्जन संभव नहीं है। विश्वनाथ ने जो काव्य की इन शब्दों में परिभाषा की है उसकी पश्चात्वर्ती विद्वानों ने तीव्र आलोचना की है। हमें इस मतभेद में न पड़ते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि रस ही नाटक-साहित्य का सर्वप्रधान तत्त्व है। नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि का इस विषय में कथन है—

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तत इति।

इस कथन का तात्पर्य है कि रस के बिना रूपक में कोई नाट्यार्थ प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् रस ही सर्व तत्त्व, सर्वस्व, सर्वाधार है।

आचार्य धनञ्जय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ दशरूपक में दृश्यकाव्य या नाटकों में रसास्वादन ग्रहण न करनेवाले मूढ़मति पाठकों का उपहास करते हुए लिखा है—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु
व्युत्पत्तिमात्रम्फलमल्पबुद्धिः।
यो ऽ पीतिहासादिवदाह साधुः
तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय॥ द० रू० १।२

जिस स्वल्प ज्ञानी महोदय ने आनन्द का स्पन्दन करनेवाले रूपकों में इतिहास-पुराण के समान व्युत्पत्ति व आचार-शिक्षा को ही वास्तविक एवं प्रधान विषय मान लिया है उस सुख-पराङ्मुख समीक्षक को मैं दूर से ही नमस्कार करता हूं।

अल्लराज ने अपने 'रस-रत्न-प्रदीपिका' ग्रंथ में रस को ब्रह्म-रूप सुख एवं सांसारिक पदार्थों से उत्पन्न होनेवाले सर्वोत्तम सुख का मध्यवर्ती माना है। उपर्युक्त समीक्षा के उपरांत प्रत्येक जिज्ञासु हृदयमें यह शंका उत्पन्न होती है कि नाटक-

साहित्य में रस को इतना उच्च स्थान किस कारण दिया गया है। इसी रस का समावेश करने के फलस्वरूप नाटककार अपनी कृति का पद समीक्षकों के समक्ष अति उच्च कर लेते हैं जिस कारण ग्रंथ में एक सर्वातिशायिनी प्रतिभा का समावेश होता है जो कि अपनी अपूर्व मनोरमता के कारण मनोरंजन की एक सर्वोत्कृष्ट सामग्री प्रस्तुत करती है। इससे सहृदय व्यक्ति के हृदय-पटल पर सरलतापूर्वक हेम-रेखा सी अंकित हो जाती है। कीथ जैसे पाश्चात्य विद्वानों का इस विषय में कथन है कि संस्कृत नाटक-साहित्य में यह रस-निरूपण एक अनुपम गुण है जिसका कि संसार के समस्त साहित्य पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव पड़ा।

पाठकों को एक अनुपम अनुभूति का रसास्वादन कराने के अतिरिक्त रूपक, जो अभिनय का पुट प्रस्तुत करता है, उससे दर्शक नटों में ऐतिहासिक पात्रों का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। रूपक की परिभाषा बताते हुए साहित्य दर्पणकार ने "रूपारोपन्तु रूपकम्" अर्थात् अभिनय अथवा रूप के आरोप को ही रूपक कहा है, यथा नट पर अनुकार्य राम, दुष्यंत आदि का आरोप होता है। दशरूपककार धनंजय ने "अवस्थानु कृतिर्नाट्यम्" अर्थात् अवस्था की अनुकृति को ही नाट्य बताया है, जो मानसिक अधिक होती है। अरस्तू ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है कि नाटक वह काव्य है जिसमें कार्य-विशेष का अनुकरण गंभीरता के साथ किया गया हो तथा आकृति स्वतः पूर्ण एवं विवरण चित्ताकर्षक हो। प्रसन्नोत्पादक उपकरणों से भाषा का इसमें समावेश किया जाता है। करुणा, भय एवं उल्लास व्यक्त करनेवाले भावों का परिष्कार करना ही नाटककार का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इस परिभाषा के अनुसार नाटक में निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश करना परमावश्यक है—

१. गाम्भीर्य, २. स्वतःपूर्णता, ३. अलंकारपूर्ण भाषा, ४. वर्णन के स्थान में अभिनयात्मकता, ५. करुणा एवं भय उत्पन्न करनेवाली घटनाएं, ६. उद्देश्य-रूप से भावों का परिष्कार।

अरस्तू के उपर्युक्त विश्लेषणानुसार दुःखान्त नाटक या 'ट्रेजडी' ही सर्वोत्तम नाटक का प्रतिनिधि है। अरस्तू के समय में यूनान की नाट्यकला अपनी शैशवावस्था में ही विद्यमान थी, जिस कारण अरस्तू ने भ्रांतिवश अपने ऐसे विचार

प्रकट किये। जैसा कि ऊपर संस्कृत नाटकों के सुखान्त होने के विषय में बताया जा चुका है, सुखान्त होने का ही पाठकों या दर्शकों के हृदय पर असाधारण मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार अरस्तू का उपर्युक्त कथन अत्यंत संदेहपूर्ण है।

रूपक केवल पाठकों और दर्शकों के हृदयों में रस का संचार कर उनके आनंद-वर्द्धन एवं मनोरंजन तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु उनमें अनेक ओजोमय गुणों का भी समावेश करता है। उसका अभिनय दुःखपूर्ण जगत् में कितना लाभ-दायक हो सकता है, इस विषय में आचार्य भरत का मत है—

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः॥ भ० १।१०८

इस अपूर्व नाट्य-साहित्य में कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा है। राजनीति एवं अर्थनीति का भी समावेश है। कहीं श्रम है, कहीं हंसी, कहीं युद्ध, काम अथवा वध का भी मनोरम निरूपण है।

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामार्थसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया॥ भ० १।१०९

यह नाट्य-साहित्य प्रतिकूल वृत्तिवाले लोगों की मानसिक व्यथा को शान्त कर अनुकूल वातावरण को उत्पन्न करने वाला है। विद्वानों को भी धर्माचरण करने में सहायता प्राप्त होती है। कामी पुरुषों का काम एवं ढीठ लोगों की ढिठाई इसी की सहायता से शान्त होती है। मत्त पुरुषों का दमन करना ही इसका एक विशेष गुण है।

क्लीवानां धाष्ट्र्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबोधानां विबोधश्च वैदग्ध्यं विदुषामपि॥ भ० १।११०

इसके प्रभाव से पुरुषत्व-विहीन नपुंसक लोगों में भी एक उत्साह एवं स्फूर्ति उत्पन्न होती है। वीरों को अपूर्व धैर्य प्राप्त होता है। अज्ञानी लोग भी विशेष

ज्ञान को प्राप्त करते हैं। विद्वानों की भी चतुराई वृद्धि को प्राप्त हो सकती है।

यह अपूर्व नाटक-साहित्य भविष्य में किस प्रकार संसार के क्लेशों का विनाश करने में उपयोगी होगा, इस विषय में भरत का मत है—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतन्मयाकृतम्॥ भ० १।११४

यह मेरे द्वारा रचा हुआ अद्‌भुत नाट्यशास्त्र नाना प्रकार के दुःखों से दुखी एवं शोकसंतप्त संसार-वासियों के लिए उचित समय पर विश्राम देनेवाला होगा। भरत मुनि की यह वाणी सत्य ही एक भविष्यवाणी सिद्ध हुई। जब क्लेशों से पीड़ित एवं संतप्त मनुष्य नाटक का अवलोकन करता है तो उसकी समस्त थकान मिट जाती है।

इस नाट्य साहित्य की रोचकता एवं भावुकता से प्रभावित होकर ही मुनि ने इसको पंचम वेद कहा है —"तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्।" भगवान ब्रह्मा से यह प्रार्थना करते हुए मुनि कहते हैं कि हे भगवन्! अब आप एक ऐसे पांचवें वेद का निर्माण कीजिए जिससे साधारण ज्ञानी पुरुष, शूद्र एवं स्त्रियां भी निःसंकोच भाव से उसका रसास्वादन ग्रहण कर सकें।

अब प्रश्न उठता है कि महाकाव्य, उपन्यास एवं नाटक तीनों ही से यह रस ग्रहण किया जा सकता है, तो नाटक-साहित्य को ही यह प्रधानता क्योंकर प्रदान की जावे। इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम काव्य के इन तीनों अंगों पर विचार करते हुए अवलोकन करें कि इनका संसार के साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा। किसी भी वस्तु का वर्णन प्रस्तुत करते समय गद्य और पद्य दोनों का उपयोग किया जा सकता है। पद्यात्मक वर्णन महाकाव्य के रूप में मिलता है। महाकाव्य संस्कृति-प्रधान ग्रंथ होता है और उसमें जीवन की समस्त परिस्थितियों पर सम्यक् दिग्दर्शन किया जा सकता है। रामायण एवं महाभारत हमारे साहित्य के सर्वोत्तम महाकाव्य हैं। दोनों में ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की तत्कालीन परिस्थिति का सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है।

उपन्यास गद्य का प्रधान अनुकरणात्मक रूप है। यद्यपि नाटक को शुद्ध गद्य नहीं कहा जा सकता, पर उसमें गद्य की प्रधानता अवश्य होती है। कथनोपकथन होने के कारण यह गद्य का ही एक भेद है, यद्यपि उपयुक्त स्थलों पर उसमें पद्य का भी पर्याप्त समावेश होता है। संस्कृत-नाट्य-साहित्य में संसार की अन्य भाषाओं के इस साहित्यविशेष की अपेक्षा पद्य अधिक मिलता है। महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास में चरित्र-चित्रण की प्रधानता होती है। रामायण एवं उत्तररामचरित में कथानक की समता होने पर भी राम के स्थान पर दृष्टिपात करने से भिन्नता स्पष्ट द्योतित हो जाती है। रामायण में राम, पुत्र, पति, राजा, राष्ट्रोद्धारक आदि सभी रूपों में आदर्श पुरुष हैं जब कि 'उत्तररामचरित' में भवभूति ने उन्हें व्यक्तिगत रूप में ही चित्रित किया है। नाटक में हमें उनके हृदय एवं सुख-दुःख से अधिक परिचय मिलता है। इस प्रकार हमने देखा कि नाटक यद्यपि एकांगी होता है, फिर भी उसमें चरित्र-चित्रण एवं पात्रों का व्यक्तित्व इस प्रकार निरूपित किया जाता है जो अपेक्षया अत्यधिक प्रभावोत्पादक होता है।

यद्यपि उपन्यास और नाटक दोनों के ही कथानक में व्यक्तिगत चित्रण का प्राधान्य होता है, फिर भी दोनों के दृष्टिकोण में अंतर स्पष्ट आभासित होता है। उपन्यास अधिकतर भूत से ही संबंधित होता है जिसके आधार पर उसके आख्यान का निर्माण किया जाता है। आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में कतिपय ऐसे भी उपन्यास हैं जिनका कथानक भविष्य की किसी घटना का संकेत करता है किन्तु उसमें भी लेखक अपनी कल्पना के आधार पर भविष्य की घटनाओं को भूत का-सा बनाकर चित्रित करता है। इसी प्रकार नाटक-साहित्य में भी भूत से संबंधित किसी घटना का अभिनय होता है परन्तु नाटककार उसे पाठकों के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत करता है मानों वह उन्हें चाक्षुष प्रत्यक्ष करवा रहा हो। इस प्रकार नाटक उपन्यास से अधिक प्रभावोत्पादक है। उपन्यास में हमें केवल कल्पना ही करनी पड़ती है जब कि नाटक में कवि प्रत्यक्ष-सा आभासित करवा देता है। नाटक में पात्रों द्वारा कवि का व्यक्तित्व पाठकों के समक्ष आता है और उपन्यासकार की अपेक्षा पाठकों का वह अधिक साक्षात् सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ होता है।

उपन्यास और नाटक दोनों में महाकाव्य की अपेक्षा यथार्थता की मात्रा अधिक होती है और दोनों में जीवन के समस्त अंगों पर प्रकाश डालने का पूर्ण प्रयास भी किया जाता है। इस प्रकार काव्य के इन दोनों ही भागों पर चुनाव का पर्याप्त अवसर मिलता है। नाटक में इस कला का अधिक विकास एवं रोचक रूप दृष्टिगोचर होता है जिसमें कथावस्तु दृश्यों में विभक्त होती है और कथन का तारतम्य टूटे बिना ही संक्षेप में समस्त पात्रों के चरित्र की व्यंजना भी हो जाती है। यही कारण है कि वस्तु, नायक और रस नाटक के तीन अंग माने गये हैं जिनका कि नाट्यकला के विकास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। 'काव्य प्रकाश' के रचयिता मम्मट द्वारा बताये हुए काव्य के एक उद्देश्य, "कान्ता सम्मितयोपदेशयुजे" अर्थात् प्यारी पत्नी के मनभावन उपदेश देने की इच्छा की पूर्त्ति भी संस्कृत नाटक-साहित्य से पूर्ण रीत्या हो जाती है।

काव्य का सुमनोहर रूप प्रस्तुत करने के साथ-साथ संस्कृत नाटक-साहित्य की एक असाधारण विशेषता यह है कि उसमें पद्य श्लोकों के मध्य में गद्य संवादों का परस्पर आदान-प्रदान भी होता है। यह गद्यांश आगे आनेवाले पद्य के लिए भूमिका का काम करता है। कतिपय नाटकों में तो गद्य-पद्य का इतना मिश्रण होता है कि अर्द्ध श्लोक के पढ़े जाने के बाद गद्य का संवाद आरंभ हो जाता है और उसकी समाप्ति पर शेष आधा श्लोक पूरा किया जाता है। इसका रूप भव-भूति की प्रसिद्ध रचना उत्तररामचरित में मिलता है जो इस प्रकार है—

"सीतादेव्या स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै—
रग्रेलोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत्।।"

उत्तररामचरित के तृतीय अंक में तमसा और मुरला नदियों का परस्पर सीता विषयक वार्त्तालाप होता है। अकस्मात् सीता का प्रवेश होता है और वासन्ती का-सा स्वर नैपथ्य से सुनाई देता है। उपर्युक्त पद्यांश उसी नैपथ्य से सुनाई पड़ने वाले श्लोक का पूर्वार्द्ध है। इसका भावार्थ इस प्रकार है—

कुछ समय पूर्व अपने सम्मुख हाथी के जिस चंचल बच्चे को भगवती सीता ने अपने हाथ से दिये गये सल्लकी लता के पत्तों के अग्र भागों से बड़ा किया था....

अपने वत्स-तुल्य हाथी के बच्चे के विषय में यह वचन सुन सीता के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी और वह सहसा 'किं तस्य' अर्थात् उसका ('हाथी के बच्चे' का) क्या हुआ, ऐसी गद्यमयी वाणी बोलीं जिसके उत्तर में श्लोक का उत्तरार्द्ध नेपथ्य से इस प्रकार पुनः सुनाई पड़ता है—

"वध्वा सार्धं पयसि विहरन् सोऽयमन्येन दर्पा—
दुद्दामेन द्विरदपतिना सन्निपत्याभियुक्तः"॥ उत्तर० ३।६

वह अपनी भार्या के साथ जल में क्रीड़ा करता हुआ दर्प से आते हुए दूसरे मतवाले हाथी से आक्रान्त हुआ।

संस्कृत रूपकों में भिन्न-भिन्न पात्र अपनी योग्यतानुसार एवं सामाजिक व्यवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। नायक, राजा, ब्राह्मण एवं विद्वान् संस्कृत का प्रयोग करते हैं जबकि स्त्रियां तथा अन्य निम्न पात्र प्राकृत-भाषी होते हैं। प्राकृत के प्रयोग में बहुत ही भेद और उपभेद हैं, जिनका कि भिन्न-भिन्न पात्र भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग करते हैं। शूद्रक कृत मृच्छकटिक में ऐसी अनेक प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। उनका रूप निम्नलिखित है—

भाषा प्राकृत	पात्र जो प्रयोग करते हैं
१. महाराष्ट्री	नायिका व उत्तम कोटि की स्त्रियां
२. शौरसेनी	बालक व उत्तम कोटि के सेवक
३. मागधी	राजगृह के अनुचर
४. अवन्ती	दुष्ट व द्यूत के खिलाड़ी
५. अभीरी	गोपाल जन (ग्वाले)
६. पैशाची	अग्नि के अंगारे जलानेवाले
७. अपभ्रंश	सब से नीच घृणित लोग एवं विदेशी

इस प्रकार संस्कृत-नाटक-साहित्य में सात विभिन्न प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

इंगलैण्ड की प्रसिद्ध महारानी एलिजाबेथ (सन् १५५८ से १६०३ ई०) के

समकालीन प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार शेक्सपियर के नाटकों की संस्कृत-नाटकों से तुलना करने पर कुछ आश्चर्यजनक समताएँ दृष्टिगोचर होती है। शेक्सपियर का "मूर्ख" संस्कृत रूपकों के विदूषक के समान ही होता है। दोनों ही प्रणालियों में राष्ट्र अथवा देश के सामूहिक चरित्र का चित्रण न होकर पात्रों का व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण किया जाता है। दोनों में ही स्थान और काल की अन्विति नहीं पायी जाती। रूपक में समय और स्थान का विस्तार होता है। वर्षों की घटना मिनटों में और मीलों की दूरी इंचों में दिखा दी जाती है। स्थान, काल की अन्विति न होने का यही अभिप्राय है जो कि दोनों प्रणालियों में सामान्य रीति से पायी जाती है। अरस्तू के कथनानुसार नाटक में उन्हीं घटनाओं का अभिनय करना चाहिए जो कि एक दिन या रात्रिविशेष तक सीमित रहें। परन्तु इस नियम के प्रतिकूल नाटक में दीर्घकालीन घटनाओं एवं दूरी का आभास दर्शकों को सहज में ही करवा दिया जाता है। दोनों में ही काल्पित विषयों का समावेश गद्य-पद्य का मिश्रण एवं कथानक को रोचक बनाने के हेतु एक कथा के अंतर्गत अनेक अंतर-कथाओं का समावेश किया जाता है।

प्रकृति का मानवीयकरण संस्कृत रूपकों की एक अपनी ही विशेषता है। इनमें मानव का प्रकृति के साथ जितना घनिष्ठ संपर्क दृष्टिगोचर होता है उतना अन्यत्र मिलना संभव नहीं। वृक्ष, लताएँ, पशु, पक्षी इत्यादि सभी रूपक के सजीव अंग हैं, जिनके द्वारा पात्रों को एक अनुपम स्फूर्ति प्राप्त होती है। कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुन्तल में पति-गृह-गमन के अवसर पर शकुन्तला लता, वृक्ष, हरिण, पशु-पक्षियों आदि सबसे अपना सौजन्य प्रकट करती हुई जाने की अनुमति मांगती है। यह घटना नाटक-साहित्य में प्रकृति के मानवीयकरण का एक अद्वितीय उदाहरण है।

मेक्डानल के मतानुसार महाकवि कालिदास के सर्वश्रेष्ठ रूपकों में भी अभिनय की दृष्टि से एक महती न्यूनता है। भावों की सुकुमारता, प्रकृति तथा पशु-पक्षियों के मानवीयकरण की बहुलता के कारण वे अभिनय की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उनमें ऐसे अनेक विषयों का समावेश होता है जिनमें स्वर्ग और पृथ्वी अभिन्न हो जाते हैं। मनुष्य, देव तथा अप्सराओं तक

का एक ही स्थान पर मिश्रण कर दिया गया है। भारतीय विद्वानों का इस विषय में कथन है कि संस्कृत-रूपक रसप्रधान होते हैं। कथावस्तु की यथार्थता एवं वास्तविकता पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना कि प्रेक्षकों के हृदयों में रस-संचार का। कालिदास के रूपक, भावों की सुकुमारता के कारण, पाठकों के हृदय में रस-संचार कर भावों को दृढ़ करने में समर्थ होते हैं। अभिनय की न्यूनता के विषय में हमारे देश के विद्वानों का कथन है कि तनिक सी सावधानी व रंगमंच के विकसित होने पर यह सब प्रबन्ध सरलता से किया जा सकता है। जिन घटनाओं का मंच पर अभिनय करना कठिन है उनमें से पशु-पक्षियों का मानवीयकरण तथा स्वर्ग और पृथ्वीलोक को समान मान कर उड़ने आदि के दृश्य हैं। पशु-पक्षियों को मंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है और इस प्रकार मानवीय मनोभावों का उनमें निरूपण हो सकता है। यह आधुनिक सरकस और नाटक का मिश्रित रूप कहा जा सकता है। परदे पर वृक्ष एवं लताओं के चित्र बना कर उनमें भी ऐसा ही आरोपण किया जा सकता है। उड़ने आदि की घटनाएं रंग-शीर्ष के दोहरे बनाने से प्रदर्शित की जा सकती हैं जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

संस्कृत-साहित्य में रूपक का आरम्भ प्रस्तावना से होता है जिसका पहिला श्लोक नान्दी कहलाता है। नान्दी रूपक के आरंभ में राष्ट्रीय प्रार्थना-रूप होती है और प्रस्तावना में रूपक के संचालक सूत्रधार और नटी व विदूषक में परस्पर वार्तालाप द्वारा रचयिता एवं उसकी कृति का संक्षिप्त परिचय होता है। नान्दी की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥ साहि० ६।२४

नान्दी में देव, ब्राह्मण, राजा आदि की स्तुति रहती है और आशीर्वाद भी सम्मिलित होता है। रूपक के आदि में मंगलाचरण के रूप में जो दर्शकों और पाठकों की रक्षा के लिए इष्टदेव से प्रार्थना की जाती है वह नान्दी कहलाती है।

सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः।
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलंकृताम्॥ भ० ५।१०७

सूत्रधार को चाहिए कि नाटक के आरंभ में बारह अथवा आठ पद, शब्द या वाक्यों वाली अलंकृत नान्दी का मध्यम स्वर से पठन करे।

प्रस्तावना की परिभाषा इस प्रकार से की गयी है—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥
साहि० ६।३१, ३२

प्रस्तावना या आमुख उसे कहते हैं जो कि रूपक के आदि में सूत्रधार का नटी, विदूषक अथवा समीपवर्ती व्यक्तियों से परस्पर वार्तालाप के रूप में होता है। इसी वार्तालाप के अंतर्गत हमें रूपक, नाटककार तथा आगामी कथानक का संक्षिप्त परिचय भी मिलता है।

प्रस्तावना के आगे का रूपक का समस्त भाग अंकों और दृश्यों में विभक्त रहता है। एक पात्र के आगमन से दूसरे पात्र के गमन पर्यन्त रूपक के भाग को दृश्य कहते हैं। अंक की समाप्ति पर रंग-मंच रिक्त हो जाता है। एक अंक के आरंभ अथवा दो अंकों के मध्य में विष्कम्भक या प्रवेशक का प्रयोग होता है। इसमें स्वगत भाषण[1] अथवा संवाद द्वारा प्रेक्षकों का ध्यान ऐसी घटनाओं की ओर आकर्षित किया जाता है जिनका कि रंग-मंच पर अभिनय करना अनावश्यक हो परन्तु कथानक का क्रम जानने के लिए उनका उल्लेख करना आवश्यक हो। साहित्यदर्पण में इनकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

विष्कम्भकः

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥

१. इस प्रकार धीरे बोलना कि दर्शकों को लगे मानो मन में कहा जा रहा हो।

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥
साहि० ६।५५, ५६

विष्कम्भक रूपक का वह भाग है जो अंक के आदि में वर्तमान होता है। वह ग्रन्थ की व्यतीत व आनेवाली घटनाओं का संक्षेप में वर्णन करता है। यह दो प्रकार का होता है, शुद्ध और संकीर्ण। शुद्ध में एक अथवा दो मध्यम पात्रों का अभिनय रहता है और उनका परस्पर भाषण संस्कृत में ही होता है। संकीर्ण में नीच और मध्यम पात्रों द्वारा अभिनय होता रहता है और प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है।

प्रवेशकः

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥ साहि० ६।५७

प्रवेशक रूपक का वह भाग है जो केवल प्राकृत में नीच पात्रों द्वारा अभिनीत किया जाता है तथा अंक के मध्य में वर्तमान रहता है। विष्कम्भक के समान इसमें भी व्यतीत और आनेवाले कथानक का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

रूपक की समाप्ति भरत वाक्य से होती है जिसमें रूपक का नायक या प्रधान पात्र देश, समाज एवं राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि के लिए इष्टदेव से मंगल-कामना करता है।

रूपकों में अंकों की संख्या में भी अंतर होता है। प्रहसन में एक, नाटिका में चार तथा नाटक में कम से कम पांच और अधिक से अधिक दस अंक होते हैं।

इस प्रकार रूपक के क्रम का विवेचन करने के उपरांत वृत्तियों का भी उल्लेख करना आवश्यक है। जिन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रूपक का अभिनय हो सकता है उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं जिनके नाम भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी हैं। इन वृत्तियों के लक्षण बताते हुए भरत मुनि ने लिखा है—

भारती

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता, सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥ भ० २२।२५

भारती वृत्ति में बोलने की प्रधानता होती है। यह केवल पुरुषों द्वारा ही अभिनीत की जाती है। स्त्रियों के लिए इसका प्रयोग वर्जित है। संस्कृत वाक्यों का इसमें प्रयोग होता है। नट या भरतों द्वारा अधिक प्रयुक्त होने के कारण ही इसका नाम भारती पड़ा है।

सात्वती

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥ भ० २२।३८

जो वृत्ति सत्त्व गुणों से युक्त होती है और न्यायोचित आचरणों से समन्वित की जाती है, हर्ष से युक्त और शोक के भावों से रहित होती है और जिसमें यदि शोक का भाव हुआ भी तो अद्भुत उपायों द्वारा दबा दिया जाता है वह वृत्ति सात्वती कहलाती है।

कैशिकी

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा, स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा, तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥ भ० २२।४७

जहां सुन्दर नेपथ्य, वेश-भूषा से विशेष सजावट की जाये, स्त्रियों का यथास्थान रोचक अभिनय हो, अत्यधिक नाचने-गाने का समावेश हो, काम एवं विलास से उत्पन्न हुए उपचारों से युक्त हो उसे ही कैशिकी वृत्ति कहते हैं।

आरभटी

प्रस्तावपातप्लुत लङ्घितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥ भ० २२।५६

जहां उठने-बैठने, उछलने-गिरने, लांघने, कूदने आदि घटनाओं का यथास्थान अभिनय हो, माया के द्वारा ऐसा वर्णन हो जो इंद्रजाल सा प्रतीत हो, उस वृत्ति को आरभटी कहते है।

इस प्रकार रूपक में प्रयुक्त प्रमुख परिभाषाओं के लक्षण जान लेने के उपरांत संस्कृत रूपकों के अभिनय के लिए बने हुए भारतीय रंगमंच और उसके विकास पर दृष्टि डालना आवश्यक है। अभिनय ही नाट्यकला का सर्वप्रमुख तत्व है जिसके लिए रंगमंच की उपयुक्तता एक महती आवश्यकता है। भाषा के समान ही यह कहना कठिन है कि इसका आरंभ कब हुआ। भरत मुनि के अनुसार इसकी उत्पत्ति देवताओं द्वारा हुई जो इस प्रकार है—

देवलोक में इंद्र के आज्ञानुसार 'लक्ष्मी स्वयंवर' नामक एक नाटक खेला गया। उसमें उर्वशी नामक अप्सरा ने लक्ष्मी का भाग इतनी तन्मयता से अभिनीत किया कि वह अपने को लक्ष्मी ही समझने लगी और तद्वत् चेष्टाएँ भी करने लगी। इस घटना से क्रुद्ध ब्रह्मा के शाप के कारण उस अप्सरा का मर्त्यलोक में प्रवेश हुआ और उसके साथ ही रंग मंच और नाट्यकला का आगमन भी हुआ। इस घटना का तथ्य कोई माने या न माने, भारतीय रंग मंच का सर्वप्रथम रूप भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है जो निम्नलिखित है—

त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव तु मण्डपः॥
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथावरम्।
प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्॥
शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वात्रिंशदेव च।
अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्॥
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते।
देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत्॥ भ०२—८—११

आकृति के आधार पर प्रेक्षागृहों को तीन प्रकार का बताया गया है जो कि विकृष्ट (आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार) और त्र्यस्र (त्रिभुजाकार) होता है। इन

तीनों ही प्रकार के प्रेक्षागृहों को पुनः माप के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया गया है जो कि ज्येष्ठ (बड़ा), मध्य (मझला), अवर (सब से छोटा) कहा गया है। इनकी माप हस्त और दण्ड के अनुसार होकर उनको पुनः दो भागों में विभक्त करती है। ज्येष्ठ १०८ हस्त या दंड, मध्य ६४ हस्त या दंड और अवर ३२ हस्त या दंड लम्बा होता है। इस प्रकार प्रेक्षागृहों के समस्त भेदों की संख्या १८ होती है।

इनकी चौड़ाई के विषय में भरत नाट्यशास्त्र के टीकाकारों में बहुत मतभेद है परन्तु अधिकांश विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि उपर्युक्त चतुरस्र और त्र्यस्र प्रेक्षागृहों की प्रत्येक भुजा कथित निश्चित नाप की ही होती है। विकृष्ट (आयताकार) प्रेक्षागृह में लम्बाई तो उपर्युक्त निश्चित नाप के अनुसार ही होती है परन्तु चौड़ाई लम्बाई की आधी होती है। हस्त और दंड के विषय में भी हमारे देश के प्राचीन मनीषी आचार्यों ने बड़ी ही वैज्ञानिक नाप बतायी है। छोटे से छोटे स्थान की माप के लिए वे किस प्रमाण की माप का प्रयोग करते थे, इन निम्नांकित श्लोकों से विदित होता है—

(अणू रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा।
अङ्गुलं च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः॥
अणवोऽष्टौ रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ बाल उच्यते।
बालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टकं भवेत्॥
यूकास्त्वष्टौ यवो ज्ञेयो यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम्।
अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते॥
चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः)॥

भ० २।१६–१८

आठ अणुओं का एक रज होता है। आठ रज मिल कर एक बाल कहलाता है। आठ बाल का एक लिक्षा (लीख), आठ लिक्षा का एक यूका (जूं), आठ यूका का एक यव (जव), आठ यवों का एक अंगुल, २४ अंगुल का एक हस्त और चार हस्त का एक दंड कहलाता है। यह दंड आधुनिक दो गज के लगभग होता है।

इस प्रकार इस नाप के अनुसार एक गज के १, २५, ८२, ९१२ तथा एक दण्ड के २, ५१, ६५, ८२४ समभाग किये गये हैं।[1]

इन तीनों ज्येष्ठ, मध्य और अवर प्रेक्षागृहों में भी मध्य प्रेक्षागृह को भरत मुनि ने सर्वश्रेष्ठ बताया है। इस प्रेक्षागृह में जो कुछ अभिनय किया जाता है वह अपनी आकृति के कारण सहज में ही सब प्रेक्षकों को प्रभावित कर लेता है। बड़े प्रेक्षागृहों में वर्णों के भली भांति व्यक्त न होने के कारण विस्वरता होने की संभावना बनी रहती है। विस्तृत या ज्येष्ठ प्रेक्षागृह में दर्शक पात्रों के भावों को भी स्पष्टतया समझने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए मध्यम विस्तार वाला प्रेक्षागृह ही सर्वोत्तम है जिसमें गायन, वादन एवं संवाद सुगमता से श्रवण किया जा सकता है।

प्राचीन यूनान देश में रंगमंच के विकास पर दृष्टि डालने से प्रकट होता कि उस समय वहां के रंगमंच बहुत विस्तीर्ण होते थे और उनमें बहुत अधिक लोग देखने के लिए आते थे। दर्शकों के समक्ष पात्र अपनी विभिन्न चेष्टाओं को व्यक्त करने के हेतु कई प्रकार के चेहरे लगा कर उपस्थित हुआ करते थे। 'ट्रेजेडी' और 'कॉमेडी' दोनों ही प्रकार के नाटकों में भिन्न-भिन्न आकृति के चेहरे प्रयुक्त होते थे। नाट्य-स्थल के बहुत अधिक विस्तीर्ण होने के कारण दर्शक पात्रों की क्रिया को ठीक समझ भी नहीं पाते थे। इसी कारण इस प्रकार के चेहरों का प्रयोग होता था। अथेन्स के प्रसिद्ध दियोनिसस के रंगस्थल में २७००० दर्शकों के बैठने के लिए पर्याप्त स्थान था। भरत मुनि ने भविष्य में संभाव्य इन सब कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुए मध्य प्रेक्षागृह को ही सर्वोत्तम बताया है।

१. ८ अणु=१ रज। ८ रज=१ बाल।
८ बाल=१ लिक्षा। ८ लिक्षा=१ यव।
८ यव=१ अंगुल। २४ अंगुल=१ हस्त।
४ हस्त=१ दंड=२ गज।
या १, २५, ८२, ९१२ अणु=१ गज।
२५१, ६५, ८२४ अणु=१ दंड।

मध्य प्रेक्षागृह को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए मुनि ने उसमें बनाये जानेवाले नेपथ्य, प्रेक्षकों के बैठने के लिए उचित स्थान, आदि का विस्तृत रूप से विवेचन किया है। हस्त प्रमाण वाले विकृष्ट प्रेक्षागृह की लम्बाई ६४ हस्त तथा चौड़ाई ३२ हस्त होती है। उसमें नेपथ्य, रंग-शीर्ष एवं प्रेक्षकों के बैठने के स्थान का विस्तृत वर्णन करते हुए भरत मुनि का कथन है—

चतुःषष्टिकरान्कृत्वा द्विधाकुर्यात्पुनश्च तान्।
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु॥
तस्यार्द्धेन विभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्।
पश्चिमेऽथ विभागे च नेपथ्यगृहमाविशेत्॥ ना० २।४०–४१

६४ हस्त भूमि को भली प्रकार नाप कर उसको दो भागों में विभक्त करना चाहिए। एक भाग रंगमंच तथा दूसरा दर्शकों के बैठने का स्थान होता है। रंगमंच का पिछला आधा भाग नेपथ्य और रंगशीर्ष तथा अग्रिम आधा भाग रंगपीठ कहलाता है। इस प्रकार ६४×३२ माप वाले मध्य विकृष्ट प्रेक्षागृह में अग्रिम ३२×३२ प्रेक्षकों के बैठने का स्थान तथा पिछला ३२×३२ रंगमंच हो गया। रंगमंच के पिछले आधे भाग १६×३२ में नेपथ्य और रंगशीर्ष की कल्पना की गयी जिसका पिछला आधा ८×३२ नेपथ्य तथा आगामी ८×३२ रंगशीर्ष कहलाया। उसके आगे का आधा भाग १६×३२ रंगपीठ कहलाया। नेपथ्य वह भाग है जहां पर रंगमंच के परदे के पीछे सब पात्र एकत्र होते हैं और नाटक में भाग लेने के लिए तैयार होते हैं। प्रेक्षकों के समक्ष जिस स्थान विशेष पर अभिनय किया जाता है वह रंगपीठ कहलाता है। इन दोनों के मध्य का भाग रंग-शीर्ष कहलाता है जहां कि पात्र नेपथ्य से आकर विश्राम करते हैं।

भारतीय रंगमंच की आकृति पर विचार करने से यह रंग-शीर्ष विशेष महत्त्व का प्रतीत होता है। उसकी विद्यमानता में पात्रों के आने-जाने का रहस्य दर्शकों को सरलता से विदित नहीं होता था। अभिनय संबंधी कुछ आवश्यक पदार्थों के रखने की व्यवस्था भी इसकी सहायता से हो जाती थी। यूरोपीय विद्वानों ने स्वर्ग और पाताल के दृश्य जो अभिनय की दृष्टि से अनुपयोगी बताये हैं वे भी रंग-शीर्ष

के दुमंजिले बनाने से सहज अभिनेय हो जाते थे, जहां से आता हुआ पात्र उड़ने का अभिनय कर सकता था।

उस समय वर्ण-व्यवस्था भी बहुत कठोर थी जिसके कारण रंगमंच के समक्ष बैठनेवाले दर्शकों के लिए वर्णानुकूल स्थान नियत थे। यह स्थान निर्देश करने के हेतु ब्राह्मणों के लिए शुक्ल रंग का, क्षत्रियों के लिए लाल रंग का, वैश्यों के लिए पीले रंग का तथा शूद्रों के लिए नीले रंग का स्तंभ गाड़ा जाता था। इसी प्रकार राजपुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के बैठने के पृथक्-पृथक् स्थान भी निर्दिष्ट थे। प्रेक्षागृह के पूर्व भाग में राजा का आसन था। उसके बायीं ओर मंत्री, कवि, ज्योतिषी एवं व्यापारीवर्ग तथा दाहिनी ओर स्त्रियां बैठती थीं। राजपुरुष तथा बच्चों के स्थान उत्तर में और राजदूत, भाट, आलोचक एवं रक्षकों का स्थान किनारे नियत था। संसार में भारतीय रंगमंच का इतना विकसित और विस्तृत रूप प्रारंभिक अवस्था में ही पाया जाना निःसंदेह संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक अत्यंत गौरवास्पद घटना है।

भारतवर्ष के यशस्वी सम्राट् महाराज हर्षवर्द्धन के राज्यकाल पर्यंत जो सन् ६०६ से ६४८ ई० तक था भरत मुनि की इस प्रणाली का पर्याप्त प्रचार रहा। यवनों के आक्रमण एवं प्रभुत्व स्थापित होने के अनंतर संस्कृत को राजकीय प्रोत्साहन मिलना समाप्तप्राय हो गया तथा नाटयकला के साथ-साथ रंगमंच की भी पर्याप्त अधोगति हुई। केवल जनसाधारण में राम तथा कृष्ण के जीवन तथा अन्य धार्मिक कथाओं के आधार पर नाटकों का अभिनय होता रहा। इसके लिए किसी विशेष मंच का विधान न था। लोग खुले मैदानों या बाजार में जलूस के रूप में उत्सव मना लिया करते थे। यूरोपवासियों से संपर्क होने के पश्चात् हमारे देश में यूरोपीय संस्कृति के आधार पर रंगमंचों की स्थापना हुई। विषयान्तर होने से उसका यहां विशेष उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

२. भारतीय नाटक-साहित्य का उद्गम

साहित्य में नाटक एक प्रमुख स्थान रखता है और वह दर्शकों को ऐतिहासिक पात्रों से साक्षात्कार सा करवा देता है। उन्हें अपने अतीत के नायकों से शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता रहता है। रूपक दृश्य काव्य का एक मात्र रूप है। दर्शक अपने सम्मुख की घटनाओं को देखता हुआ स्वतः शिक्षा ग्रहण करता है। इस प्रकार नाटक प्राचीन काल से ही शिक्षा देने का सुंदर ढंग रहा है। नाटक के देखने से प्रेक्षकों के हृदयों में एक अद्भुत आत्मतुष्टि होती है और वे स्वर्गीय आनंद का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, उनके हृदयों से संसारजन्य अनेक क्लेश अभिनीत नाटक का दर्शन करते हुए सीमित काल के लिए दूर हो जाते हैं।

नाटक-साहित्य का उद्गम किस प्रकार हुआ, इस विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। पिश्चल नामक एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि पुतलियों के खेल व नाच से ही नाटक-साहित्य का उद्गम हुआ। सूत्रधार शब्द इस मत का प्रमुख आधार है। सूत्रधार शब्द का अर्थ (सूत्रं धारयति इति सूत्रधारः अर्थात्) डोरा धारण करनेवाला है। सूत्रधार ही प्रत्येक नाटक में उसका संचालक होता है और सर्वप्रथम उसमें उसका ही भाग होता है। पुतली के नाच में संचालक मनुष्य सूत्रधार के रूप में डोरा धारण करता है और उसी के द्वारा अपना कार्य संपादित करता है। इसी पुतली के खेल का डोरा धारण करनेवाला कालांतर में नाटक का सूत्रधार हुआ और रूपक इसी खेल के विकसित रूप का परिणाम हुआ। इस मत की पुष्टि अन्य अनेक प्रमाणों द्वारा भी होती है। महाभारत में पुतली के खेल का वर्णन है। प्रथम शताब्दी में गुणाढ्य द्वारा रची हुई बृहत्कथा के आधार पर कथासरित्सागर नामक ग्रंथ की रचना हुई। उसमें एक अद्भुत प्रकार की पुतली का उल्लेख है। असुर की नव-यौवना पुत्री माया के सहयोगियों में एक विचित्र प्रकार की पुतली ऐसी है जो नाचती है, उड़ती है, पानी भरती है, फूल

तोड़ती है और हार बनाती है। इसी प्रकार राजशेखर कृत 'बाल रामायण' में वर्णन है कि रावण सीता की प्रतिकृति-रूप एक पुतली को देख कर धोखे में पड़ जाता है।

महाराष्ट्र देश में गांवों में घूमनेवाले भ्रमणशील मंच आधुनिक काल में भी प्रचलित हैं। शंकर पांडुरंग पंडित का मत है कि उनके समय में लकड़ी और कागज की बनी हुई पुतलियों का खेल गांवों में बहुत अधिक मात्रा में प्रचलित था जो कि भ्रमणशील मंच का एक रूप कहा जा सकता है।

पिश्चल के पुतलियों से नाटक की उत्पत्ति के मत के विरुद्ध आलोचकों का मत है कि नाटकों की अपेक्षा पुतली के नाच अधिक पुराने प्रतीत नहीं होते। अतः यह मत सर्वथा उपेक्षणीय है। रामायण, महाभारत एवं पतंजलि मुनि कृत महाभाष्य में नाटकों की प्रारंभिक दशा का उल्लेख मिलता है। उनमें इस प्रकार की पुतलियों के नाच का उल्लेख नहीं है। नाटकों के विकसित और अभिनीत होने के पश्चात् ही इस खेल का आरंभ हमारे देश में हुआ। पुतली को संस्कृत में पुत्तलिका कहते हैं जो पुत्रिका (छोटी पुत्री) का परिवर्तित रूप विदित होता है जो पुत्रिका, पुत्तलि, पुत्तलिका, दुहित्रिका आदि रूपों को धारण कर चुका होगा। नाट्य ग्रंथों के मूल स्थान भारतवर्ष देश में ही इस खेल का विकास हुआ है। प्राचीनता एवं शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर विद्वानों ने इस खेल के प्रचार को नाटकों के बाद का सिद्ध किया है और पिश्चल के मत को सर्वथा अग्राह्य प्रमाणित कर दिया है।

उपर्युक्त मत के समान ही प्रोफेसर कोनो का मत है किछा या नृत्य की अनुकृति से नाटकों का उद्गम हुआ। पतंजलि मुनि कृत महाभाष्य में शौनिक कृत्यों का वर्णन है। विद्वानों के मतानुसार शौनिक मूक या छाया पात्रों के कृत्यों को दर्शकों के मध्य में समझाया करते थे। उपर्युक्त दोनों कार्यों में से शौनिक कौन सा कार्य करते थे, इस विषय में विद्वान लोग अभी तक किसी उचित निर्णय पर नहीं पहुंच सके हैं। इस आधार पर लूडर्स का मत है कि छाया नाटक ही हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। प्रोफेसर कीथ इस विचार से सहमत नहीं हैं और उनका कथन है कि महाकाव्य का ऐसा अर्थ करना अनुचित है। इसके अतिरिक्त

विशाल संस्कृत साहित्य में छाया नृत्य का नाटक के प्राथमिक रूप में कहीं उल्लेख नहीं है और इस मत के समर्थकों के समीप कोरी कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई आधार पुष्टि के लिए नहीं रहता। कोनो का मत है कि रामायण और महाभारत के सुमनोरम प्रसंगों को दर्शकों के सम्मुख अभिनय योग्य बनाने में इस प्रथा की सहायता ली गयी।

अशोक के स्तम्भों पर दिव्य हाथियों के सम्भाषण एवं भ्रमण का उल्लेख है तथा इस क्रिया का वर्णन करने के लिए रूपक शब्द का प्रयोग है जो कि कोनो के मतानुसार रूपक का पूर्व रूप प्रतीत होता है। यह मत भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। महाभाष्य का प्रमाण संदिग्ध हो सकता है। अशोक स्तम्भ का प्रमाण भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। यदि उसको सत्य मान भी लिया जाय तो वह नाटकों के प्रारंभिक रूप का वर्णन करने में सफल नहीं हो सकता। अशोक के समय में नाट्यकला का पर्याप्त विकास हो चुका था। महाकवि भास जिनकी रचनाओं में संस्कृत-नाटक साहित्य के प्राथमिक रूप का चरमोत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है निःसंदेह सम्राट् महान् अशोक के पूर्ववर्ती थे, यद्यपि यूरोपीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। हम तो अशोक के शिलालेखों में छाया नाटकों का वर्णन मान सकते हैं पर उनको नाटक-साहित्य का उद्‌गम मानने में असमर्थ हैं।

महाभाष्य में कंस-वध एवं बालि-वध नामक दो नाटकों का उल्लेख है, यद्यपि साहित्य के ये अमूल्य रत्न काल की कराल गति में समा गये और अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। प्रो० कोनो ने इस दृष्टि से भी महाभाष्य का गंभीर अध्ययन किया और उसके आधार पर नृत्य, गान, मनोरंजक दृश्य आदि का उसमें विवरण पाया। नटों का उसमें विस्तार से वर्णन है। इस विषय में विद्वानों में मतभेद है कि ये नट एकपात्रात्मक रूपक जिनको अंग्रेजी में 'माइम' कहते हैं उनके पात्र हैं या पूर्ण विकसित नाटक के। जातक कथाओं के साक्ष्य से विदित होता है कि उस समय नाटक अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुका था और उल्लिखित नटों से विकसित नाटकों के पात्रों से ही तात्पर्य है। नृत्य एवं गान वैदिक काल में ही अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुका था और पश्चात्‌वर्ती साहित्य में सदा महत्त्वपूर्ण रहा।

अशोक के काल में समाज नामक एक सामाजिक उत्सव प्रचलित था जो कि

प्रारम्भिक नाटक का एक रूप माना जा सकता है। समाज में पशुओं का परस्पर युद्ध दिखाया जाता था जो अशोक के मन्तव्य बौद्ध मत के सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। संस्कृत के आदिकाव्य रामायण में भी नट, नर्तक अवश्यमेव विद्यमान थे, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि ये आधुनिक नाटक के पात्रों से कितने भिन्न थे। एकपात्रात्मक नाटकों का विवेचन केवल कल्पना के आधार पर ही है। डा० ग्रे का मत है कि नाटक का संस्कृत भाषा में केवल सुखान्त होना इस बात का द्योतक है कि वह आरम्भ से ही दर्शकों का मनोरंजन उत्पन्न करने के लिए किया जाता था। यह सत्य है कि संस्कृत के नाटककार दर्शकों के मन पर सुखान्त प्रभाव डाल कर उन्हें प्रभावित करते थे। नाटक समाज में प्रचलित हो जाय और सब लोग उसमें सरलतापूर्वक रस ग्रहण कर सकें, इसका अनुमान उसमें प्राकृत के प्रयोग से भी मिलता है। प्राकृत जनसाधारण की भाषा थी और नाटक में उसका स्थान-स्थान में प्रयोग होना इस बात का द्योतक है कि नाटक के कर्ता अपनी रचना जनता में अधिक रोचक और गम्य बनाने के लिए उसका प्रयोग किया करते थे। हमारे भारतवर्ष देश के सुयोग्य प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति भारत की खोज (डिसकवरी आफ इण्डिया) में भी इस मत की पुष्टि की है। वेद विद्याओं के मूल ग्रंथ हैं। वैदिक काल में नाटक के प्रधान अंग नृत्य, संगीत, संवाद का अस्तित्व अवश्य विद्यमान था। कुछ विद्वानों की यही धारणा है कि यही अंग विकसित होकर कालान्तर में नाटक के रूप में परिवर्तित हो गये। इन क्रिया-कलापों में नाटक का पुट भले ही हो किन्तु उन्हें हम नाटक कदापि नहीं कह सकते। यद्यपि इन्हें नाटक नहीं कहा जा सकता, नाटकशास्त्र के उद्गम में वेदों का महत्त्व-पूर्ण भाग अवश्य रहा। वैदिककालीन सोमयज्ञ में एक ऐसे महाव्रत ब्राह्मण का वर्णन है जो सोम विक्रय करनेवाले शूद्र का अवशेष रूप ही प्रतीत होता है। यह कीथ का मत है। विदूषक का नाटक में भाग हास्यपूर्ण है और सोम विक्रय में भी वैसा ही प्रतीत होता है। इस साम्य के आधार पर ही कुछ विद्वानों का ऐसा मत है।

उपर्युक्त विवाद में न पड़ते हुए हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि नाटक के विकास पर वेदों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा और नाटक के प्रधान अंग उसी से उद्भूत

किये गये। नाट्य लक्षणशास्त्र के सर्व-प्राचीन ग्रंथ भरत नाटयशास्त्र के कर्ता आचार्य भरत मुनि का इस विषय में मत निम्नलिखित है—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ भरतनाट्यशास्त्र १।१७

ब्रह्मा ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय व अथर्व वेद से रस को संगृहीत कर पंचम नाटयवेद का निर्माण किया। नाटय-साहित्य का साहित्य-क्षेत्र में अद्भुत स्थान होने के कारण भरत मुनि का इस शास्त्र को पंचम नाटयवेद कहना उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना॥ भ० १।१८

इस प्रकार समस्त वेदों के अनन्य भंडार भगवान् ब्रह्मा ने चारों वेद व उपवेदों से सम्बन्ध रखनेवाले इस प्रसिद्ध नाटय वेद का निर्माण किया।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यद्यपि हम नाटयसाहित्य एवं नाटक-साहित्य के उद्गम के विषय में निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंच पाये हैं पर उपर्युक्त सभी मतों का नाटक के उद्गम पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पुतली का खेल, छाया नृत्य, संवाद नृत्य, गान, वादन, अभिनय आदि विकसित हो नाटक के रूप में परिवर्तित हुए। नाटक काव्य का रमणीयतम अंग कहा जा सकता है जो काव्य के समस्त अंगों में शिक्षा देने का सर्वोत्तम रूप है। अतः नाटक के विषय में यह ठीक ही कहा गया है कि

काव्येषु नाटकं रम्यम्।

३. यूनानी तथा भारतीय नाटक-साहित्य का परस्पर प्रभाव

भारतवर्ष एक प्राचीन देश है जो सदा से ही विभिन्न संस्कृतियों का केन्द्र रहा है। संसार में सर्वप्रथम विद्या का प्रचार तथा सभ्यता का जन्म इसी देश में हुआ था। संसार के अन्य देशों को देखते हुए यूनान भी एक अति प्राचीन देश है। इसकी सभ्यता भी पुरा काल में अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन संस्कृति के इन दोनों केन्द्रों का परस्पर प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। प्रत्येक भाषा के साहित्य में नाटक-साहित्य का विशेष स्थान होता है तथा वह सदा ही पाठकों को एक अद्‌भुद् प्रेरणा प्रदान करता रहता है। पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि नाटक साहित्य का सर्वप्रथम उद्‌गम यूनान में ही हुआ। उस देश के भारत से संपर्क स्थापित करने के उपरान्त ही हमारे देश में रूपकों की रचना आरम्भ हुई। यद्यपि यह धारणा सर्वथा निर्मूल है, फिर भी हमारे लिए इस कथन की सत्यता पर विचार प्रकट करना आवश्यक है।

वेबर का मत है कि भारत में यूनानी राजदूत सर्वप्रथम पंजाब व गुजरात के राज-दरबार में आये। उनके साथ ही यूनानी नाटकों का भी हमारे देश में प्रवेश हुआ। लगभग उसी समय के रचे हुए पतंजलि मुनि कृत महाभाष्य में नाटकों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार संभव है कि भारतीय नाटक-साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ा हो। विंडिश ने इस विषय में अपना विशेष मत प्रकट किया है। उसका विचार है कि रामायण तथा महाभारत जैसे सुमनोहर महाकाव्यों के रमणीय प्रसंग तथा एकपात्रात्मक रूपकों द्वारा संस्कृत नाटकों का उद्‌गम हुआ। एक ही पात्र द्वारा आरम्भ में अभिनय होता था जो कि सामाजिक मनोरंजन का विशेष साधन था। उसे अंग्रेजी में 'माइम' कहते हैं। वह पात्र नट कहलाता था। (यह शब्द संस्कृत के मूल धातु नृत् का प्राकृत रूप है) अतः उसका विचार है कि भारतीय नृत्य ने ही कालान्तर में नाट्य-साहित्य का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार

के एकपात्रात्मक रूपक कुछ भिन्न प्रकार से यूनान में भी प्रचलित थे। इन्हें अंग्रेजी में (पैन्टोमाइम) कहते हैं। इस प्रकार समता होने से उसका अनुमान है कि हमारे देश के इस विशेष साहित्य पर यूनान का प्रभाव अवश्यमेव पड़ा होगा। महाभाष्य में नाट्यसाहित्य का जो उल्लेख मिलता है उसमें यूनान का नामोनिशान तक नहीं है। रामायण तथा महाभाष्य में उल्लिखित नाटकों में अन्तर है जो विदेशी प्रभाव के कारण हो सकता है। इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण न देकर केवल कल्पना मात्र ही की गयी है। जिस समय रामायण, महाभारत तथा पतंजलि मुनि कृत महाभाष्य की रचना हुई थी उस समय यूनान देश के रूपक अपनी शैशवावस्था को भी प्राप्त नहीं कर पाये थे। भारतवर्ष के साहित्य में कहीं इस प्रभाव का उल्लेख नहीं है, न इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण ही मिलता है। इस प्रकार यह धारणा कोरी कल्पना मात्र ही प्रतीत होती है।

भारतवर्ष में गांधार कला[1] प्रचलित थी। इस कला के विषय में विंडिश का मत है कि हमारे देश में यूनानियों के सम्पर्क से ही इस कला का श्रीगणेश हुआ। इसी प्रकार यूनान देश के प्रभाव से बौद्ध मतावलम्बियों ने महात्मा गौतम बुद्ध की प्रतिमा को विशाल रूप में चित्रित किया। कीथ के मतानुसार ईसा की प्रथम शताब्दी में गांधार कला का भारतवर्ष में प्रवेश हुआ। विंडिश के समय में लोगों का अनुमान था कि महाकवि कालिदास ही संस्कृत साहित्य में प्रथम नाटककार हैं जिनकी रचना उपलब्ध होती है। उसके काल के उपरान्त कालिदास से भी पूर्ववर्ती महाकवि भास के तेरह रूपक उपलब्ध हुए हैं। यह मत कालिदास के समय को पांचवीं शताब्दी ई० मान कर ही निश्चित किया गया है। किन्तु जैसा कालिदास के अध्याय में बताया गया है, भारतीय विद्वानों ने अपने अकाट्य प्रमाणों से उनका समय प्रथम शताब्दी ई० पू० निश्चित रूप से सिद्ध किया है। इस प्रकार विदित होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक भारत में संस्कृत नाटक साहित्य का पर्याप्त प्रचार हो गया था, जब कि मिनान्डर मध्य-पूर्व की विजय करता हुआ

१. गान तथा किंचित् अभिनय।

भारत आया और भारतीय नरेशों को यूनान देश की कला से प्रभावित किया। इस प्रकार गांधार कला का भारत में प्रवेश यूनान के सम्पर्क से हुआ, यह मत सर्वथा निराधार ही प्रतीत होता है।

अब हमें विचार करना है कि भारतीय राज दरबारों में यूनान के कला-मर्मज्ञ आये या नहीं। उन्होंने किस प्रकार अपने देश की कला का दिग्दर्शन कराया। यूनान के प्रसिद्ध विजेता सिकन्दर महान् नाट्यकला के विशेष प्रेमी थे। प्रो० लेवी का अनुमान है कि विजयार्थ उनके भारत-आगमन के समय यूनानी कलाकारों तथा कला का हमारे देश में अवश्यमेव प्रवेश हुआ होगा। इतिहास सिकंदर के जीवन तथा उसकी विजय संबंधी घटनाओं पर विस्तृत प्रकाश डालता है। परन्तु नाटक-शास्त्र पर ऐसे प्रभाव के विषय में सर्वथा मूक है। इस प्रकार लेवी का मत भी अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतवर्ष और यूनान दोनों ही संसार की प्राचीन सभ्यता के केन्द्र रह चुके हैं परन्तु जिस समय हम इन दोनों देशों की सभ्यता की तुलना करते हैं तो भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। दोनों देशों की भाषाओं में बहुत अन्तर है जिससे कि साहित्य पर परस्पर प्रभाव होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। भारतवर्ष में यूनानी ही नहीं, अपितु शक, कुशान तथा अन्य अनेकों जातियों का आगमन हुआ। हमारे देश की उस समय यह एक अत्युल्लेखनीय विशेषता रही है कि अनेक विदेशी जातियां भारत में समा गयीं तथा हमारी सभ्यता ने उनके अस्तित्व का ही भारतीयकरण कर लिया। ऐसे समय यूनान का कुछ प्रभाव पड़ना संभवनीय सा प्रतीत नहीं होता।

विंडिश का मत है कि यूनान में एक नवीन प्रकार की नाट्यकला का प्रादुर्भाव हुआ जिसका समय ईसा से पूर्व ३४० से २६० तक है। यह कला अंग्रेजी में (न्यू एटिक कोमेडी) के नाम से विख्यात है। प्राचीन संस्कृत नाटक-साहित्य से इस विशेष यूनानी कला की तुलना करने पर कुछ समता दृष्टिगोचर होती है। दोनों का ही अंकों में विभाजन है जिसकी समाप्ति समस्त पात्रों के रंगमंच से पृथक् होने पर ही होती है। किसी नवीन पात्र का प्रवेश ग्रंथ के मध्य में एकाकी नहीं होता। किसी परिचित पात्र के उपस्थित रहने पर ही दर्शकों के मध्य में उसका आगमन होता है। संस्कृत में अंक किसी विशेष घटना को लक्ष्य करके समाप्त

किये जाते हैं जब कि यूनानी साहित्य में कोई ऐसा विशेष नियम नहीं है। इस विशेष लक्षण से संस्कृत नाटक यूनानी की अपेक्षा अधिक विकसित सिद्ध होते हैं। संस्कृत में प्रायः सभी रूपक सुखान्त हैं। यह विशेषण भी सुखान्त होने का द्योतक है। अधिक विकसित तथा सुखान्त होने के कारण संस्कृत का यूनानियों पर प्रभाव पड़ा, ऐसी संभावना अधिक उचित प्रतीत होती है। हमारे देश के सुखान्त नाटकों के आधार पर ही यूनानवासियों को अपना यह विशेष साहित्य सुखान्त बनाने की प्रेरणा मिली। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में क्या भारतीय नाटक-साहित्य इतना विकसित हो गया था कि वह यूनान के साहित्य पर प्रभाव डाल सके? महाकवि भास का उस समय तक प्रादुर्भाव हो चुका था जो संस्कृत साहित्य के प्रथम उपलब्ध नाटककार हैं। भरत नाट्यशास्त्र की रचना भी, जो संस्कृत नाट्य लक्षण ग्रन्थों में प्रमुख है, तब तक हो चुकी थी। लक्षण-ग्रन्थों से लक्ष्य-ग्रंथ का निर्माण सदा पहले होता है। यद्यपि उस समय का नाटक-साहित्य उपलब्ध नहीं होता, इस प्रमाण से उसका भी विकसित होना सिद्ध होता है। दोनों ही देशों के तत्कालीन इतिहास पर विचार करने से विदित होता है कि पारस्परिक वाणिज्य-सम्पर्क दृढ़ थे। अतः यात्रियों के आवागमन से ही यूनान में एक नवीन परंपरा के नाटक-साहित्य का जन्म हुआ होगा। जब हम उस समय के संस्कृत नाटकों और इस विशेष यूनानी साहित्य की तुलना करते हैं तो हमारे उपर्युक्त मत को पुष्टि होती है। दोनों ही साहित्यों में नाटक का नायक प्रायः राजा होता है। वह किसी रूपवती कामिनी पर सहसा दृष्टिपात कर उसकी प्राप्ति के लिए भांति-भांति के प्रयत्न करता है। उसके इस पौरुष में अनेक विघ्न-बाधाएं उपस्थित होती हैं, जिनका वह साहसपूर्वक सामना करता है। अंत में सफलता उसका साथ देती है और वह प्रेमिका के साथ अपना भावी जीवन सुखमय बनाने में समर्थ होता है। यूनानी साहित्य में भी इस प्रकार की प्रणय-कथाएँ पायी जाती हैं जिससे उन पर हमारे देश के नाटकीय प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है।

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होनेवाले परदे के लिए यवनिका शब्द का प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य यवन देशों का हमारे इस साहित्य पर प्रभाव सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य विद्वान् इस शब्द का प्रमुख आधार मानते हैं। यवनिका शब्द यवन से

बना हुआ विशेषण है जिसका अर्थ यवन सम्बन्धी है। यवन देशों में फारस, अरब, सीरिया, यूनान सबका समावेश हो जाता है। इस शब्द का रूपक में उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि किसी यवन देशीय वस्तु का हमारे नाटकों में अवश्यमेव प्रयोग होता था। लेवी का मत है कि यूनान देश के व्यापारियों के सम्पर्क में आने के उपरांत ही हमारे देश में सुंदर यूनानी वस्त्र के परदे बनाये गये और तदुपरांत ही भारत में इस कला का विकास हुआ। विंडिश का मत भी इस विषय में उल्लेखनीय है। उसका विचार है कि जो परदे रंगमंच पर प्रयुक्त होते थे उन पर यूनान देश के समान ही चित्रकारी एवं कढ़ाई की हुई होती थी। यह दोनों ही मत वस्त्र के आयात पर प्रकाश डालते हैं। केवल परदे के कारण ही नाटयकला का देश में आगमन मानना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। केवल एक भाग-विशेष के प्रत्यागमन से समस्त कला का आगमन मानना अनुचित प्रतीत होता है। यवन शब्द समस्त यवन देशों का द्योतक हो सकता है, फिर केवल यूनान का ही क्यों ग्रहण किया जाये।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि भारत में नाटकों के अभिनय के अवसर पर यूनान देश की युवतियां राजा की अंगरक्षिका का कार्य किया करती थीं। यूनान तथा अन्य पाश्चात्य देशों के व्यापारियों के साथ वे युवतियां आया करती थीं और यह कार्य उनके जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन था। इस विषय में इतिहास मौन है और यह मत केवल कोरी कल्पनामात्र ही प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि यूनान में वस्त्र-निर्माण एवं कढ़ाई की कला का विशेष प्रचार था। यूनान देश से आनेवाले व्यापारी भारतीय नरेशों के यहां अनुगामी के रूप में यूनानी वस्त्र पर अपने देश की कलानुसार चित्रांकन किया करते थे। इस कारण परदे का नाम यवनिका पड़ा। सम्भवतः यवन देश के आयात किये हुए वस्त्रों से यह परदा बनाया जाता हो। किंतु भारत के तत्कालीन वस्त्र-उद्योग के विकास की ओर दृष्टिपात करने से यह मत उचित प्रतीत नहीं होता।

यवनिका शब्द के आधार पर यह अनुमान करना कि यूनान के सम्पर्क के उपरांत ही हमारे देश में इस साहित्य का श्रीगणेश हुआ, सर्वथा भ्रामक है।

प्राचीन ग्रन्थों में इसका कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। जिस समय के उपरान्त इस शब्द का प्रयोग हुआ उस समय यूनान देश से हमारे वाणिज्य सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। रंग मंच के परदे के लिए आरंभ में विदेशी वस्त्र का उपयोग होता होगा तथा कालान्तर में यह शब्द रूढ़ हो गया होगा, उपर्युक्त कथन के अनुसार यह मत भी उचित प्रतीत नहीं होता।

पाश्चात्य विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिए विभिन्न संस्कृत और यूनानी नाटकों के कथानक की तुलना कर विदेशी प्रभाव को सिद्ध करने का प्रयास किया है। संस्कृत में अधिकांश नाटक ग्रंथ रामायण एवं महाभारत जैसे प्रसिद्ध महाकाव्यों के आधार पर निर्मित किये गये हैं। कवियों ने कुछ कृतियाँ अपनी अनुपम कल्पना के आधार पर भी लिखी हैं जिनके विषय में यूनानी मूल नहीं मिल सका है। इन महाकाव्यों पर यूनानी कला किंचिदपि प्रभाव नहीं डालती। नल-दमयन्ती की कथा से मिलती हुई प्राचीन यूनानी गल्प में एक कथा मिलती है किंतु केवल एक कथा की समता से ही यह निर्णय करना उचित नहीं।

विंडिश महोदय बहुत प्रयत्न करने पर भी किसी संतोषजनक परिणाम पर न पहुंच सके। उन्होंने सम्राट् शूद्रक कृत मृच्छकटिक और यूनानी नाटक (शिष्टेलिरिया) या (औलुलेरिया) से, जिसका अर्थ छोटी शतरंज या छोटा बरतन है, तुलना की है। दोनों ही ग्रंथों में प्रणय-कथा को राजनीतिक क्रान्ति के आधार पर नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना के प्रेम की यूनानी नाटक के नायक-नायिका से तुलना की गयी है। प्रेमिका की प्राप्ति के उद्देश्य से दोनों ही ग्रंथों में सेंध लगाना और चोरी करना आदि घटनाओं का समावेश है। एक गणिका और समृद्ध ब्राह्मण का प्रेम भी शिष्टेलिरिया के विभिन्न जाति में उत्पन्न नायक और नायिका के समान ही है। मृच्छकटिक भास की रचना चारुदत्त के आधार पर रचा गया है और भारतीय नाटक का प्राचीनतम रूप नहीं कहा जा सकता। मृच्छकटिक में विट, विदूषक व शकार पात्रों में एक रोचक मनोरंजन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार उल्लिखित यूनानी ग्रंथ में भी ऐसे पात्र चित्रित किये गये हैं। यद्यपि दोनों नाटकों के पात्र मनोरंजन के हेतु ही समा-

विष्ट हैं, अन्य प्रकार की भिन्नता मिलने पर यूनानी नाटक का हमारे साहित्य पर प्रभाव सिद्ध नहीं होता।

संस्कृत नाटकों में ब्राह्मण विदूषक का भाग लेता है। नाटक में विदूषक का कार्य मनोरंजन होता है। यह कार्य प्रायः विद्वान् ब्राह्मण द्वारा ही क्यों सम्पादित होता है जब कि साधारण कोटि का व्यक्ति भी यह कार्य कर सकता है? इसके अतिरिक्त यूनानी नाटकों में भी साधारण कोटि के मनुष्य मनोरंजन का कार्य नहीं करते थे। विदूषक का विद्वान् होना यूनानी आधार पर मानना ठीक नहीं, क्योंकि विद्वान् ही मनोरंजन में कुशल हो सकता है। उसका नाटक में प्राकृत-भाषी होना केवल पात्रत्व का परिचायक है।

यूनान के नाटकों में पात्रों की संख्या न्यून है जो कि भारतीय नाट्यप्रणाली के सर्वथा प्रतिकूल है। संस्कृत रूपकों में पात्रों की दीर्घ संख्या प्राप्त होती है। भास के उपलब्ध तेरह रूपकों में पात्रों की बहुलता पायी गयी है। इसके अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तल में ३०, मृच्छकटिक में २९, मुद्राराक्षस में २४, विक्रमोर्वशी में १८ पात्र हैं। इससे भी विदित होता है कि भारतीय नाटक-साहित्य का विकास बिना किसी विदेशी प्रभाव के स्वतंत्र रूप से ही हुआ।

यूनान में नाटक-साहित्य के उद्गम के विषय में अनुमान है कि उसका विकास एकपात्रात्मक रूपक से, जिसको कि अंग्रेज़ी में 'माइम' कहते हैं, हुआ किंतु भारत में इस प्रकार का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता जिससे हम यह सिद्ध कर सकें कि यूनानी एकपात्रात्मक रूपक यहां प्रचलित थे जिनसे नाटक का विकास हुआ।

विदेशी विद्वानों ने भारतीय नाटक-साहित्य पर प्रारंभ में यूनान का प्रभाव ही सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया है। निस्सन्देह संस्कृत साहित्य संसार के समस्त साहित्यों में अद्वितीय एवं प्राचीनतम है। यूनानी साहित्य उसकी अपेक्षा बहुत ही कम विकसित और नवीन है। अधिक प्रभावशाली का कम प्रभावशाली पर प्रभाव पड़ता है। आरम्भिक युग में भारतीय नाटक-साहित्य पर यूनान अथवा अन्य किसी विदेशी साहित्य का किञ्चिद् मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। यूनान में एक विशेष प्रकार के सुखांत नाटक का विकसित होना वहां पर संस्कृत के प्रभाव

का स्पष्ट द्योतक है। शेक्सपियर के नाटकों पर भी संस्कृत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इससे प्रतीत होता है कि न केवल प्राचीन यूनान के नाटक-साहित्य पर अपितु मध्यकालीन यूरोपीय साहित्य पर भी संस्कृत नाट्य ग्रंथों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

४. ऋग्वेद और रूपक

संसार के समस्त विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि वेद ही समस्त संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और ऋग्वेद उनमें सबसे प्रमुख एवं अग्रगण्य है, यद्यपि उनके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में बहुत ही मतभेद है। इस विषय में अनुसंधान इतना अपूर्ण है कि विद्वानों के कठिन परिश्रम एवं गवेषणा के उपरांत भी किसी वैज्ञानिक निर्णय पर पहुंचना संभव नहीं हो पाया है।

भारतीय विद्वानों का सिद्धान्त है कि वेद के रचना-काल के निर्णय करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उनकी यह दृढ़ धारणा है कि वेद अपौरुषेय, अनादि एवं शाश्वत हैं। वेद सृष्टि के सर्जन के साथ ही परम पिता परमात्मा द्वारा रचे गये और चार ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित किये गये जब कि उनके शुद्ध अन्तःकरण में समाधि की अवस्था में उनका प्रादुर्भाव हुआ। उन ऋषियों में अग्नि ऋग्वेद के, वायु यजुर्वेद के, आदित्य सामवेद के तथा अंगिरा अथर्ववेद के प्रकाशक हुए। इस प्रकार उनकी रचना हुए उतना ही समय व्यतीत हुआ जितना कि सृष्टि की रचना को। भारतीय विद्वानों की गणना के अनुसार वेद और सृष्टि को रचे हुए विक्रम संवत् २०१५ (सन् १९५८ ई०) में १९७२९४९०४८ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

पं० गोपीनाथ शास्त्री चुलैट का मत है कि वेदों की रचना हुए लगभग तीन लाख वर्ष व्यतीत हो गये हैं। पाश्चात्य विद्वान् उक्त समस्त धारणाओं को निर्मूल एवं भ्रान्तिमय ही मानते हैं।

यूरोप में संस्कृत विद्या के प्रचार होने के अनन्तर यूरोपवासियों का भी वेदों के अध्ययन और अध्यापन के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ और उन्होंने वेदों के रचनाकाल आदि गम्भीर समस्याओं पर अनुसंधान करना प्रारम्भ किया। यद्यपि भारतीय विद्वान् अपनी उक्त गणना पर पूर्णरूप से स्थिर थे, फिर भी उसके सम्बन्ध

में भिन्न-भिन्न कटाक्ष करके यूरोपीय विद्वानों ने गड़बड़ पैदा करने के लिए पुनः काल-निर्णय करने का आडम्बर रचा जिसमें जर्मनी देश के वैदिक संस्कृत के विद्वान् प्रोफेसर मैक्समूलर सर्वप्रथम थे। उन्होंने सन् १८५९ ई० में 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। उन्होंने स्वीकार किया है कि महात्मा गौतम बुद्ध के समय में वेदों की संहिता ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद विद्यमान थे। गौतम बुद्ध का समय ईसवी पूर्व पांचवीं और छठीं शताब्दी है। सूत्र-साहित्य भी बौद्ध मत के उद्गम एवं प्रसरणकाल के समकालीन अथवा पश्चात्‌वर्ती ही प्रतीत होता है। अतः इसका समय ई० पू० ६०० से २०० तक माना जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों को रचने में कम से कम २०० वर्ष का समय अवश्य लगा होगा। अतः उनका प्राचीनतम रूप ८०० ई० पू० के बाद का रचा हुआ नहीं हो सकता। ब्राह्मण साहित्य अपने पूर्व समस्त वैदिक संहिताओं की कल्पना करता है। इस प्रणयन में भी कम से कम २०० वर्ष का समय अवश्य लगा होगा। इसलिए वेद संहिता के रचनाकाल को ई० पू० १००० और ८०० के मध्य में ही स्वीकार कर लेना चाहिए। मंत्रों एवं वैदिक भाषा के विकास के लिए २०० वर्ष का और समय मान कर उन्होंने ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों को १२०० ई० पू० के लगभग का स्वीकार किया है।

इस मत की सत्यता पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि यह बड़ा ही स्वेच्छा-प्रेरित एवं भ्रामक प्रतीत होता है। यह केवल कल्पना पर ही आधारित है। ब्राह्मण अथवा संहिता के सर्जनकाल को २०० वर्ष ही क्यों माना जावे? यह न्यून अथवा अधिक भी हो सकता है। इस धारणा के सम्बन्ध में स्वयं मैक्समूलर को भी अपने ऊपर विश्वास न था और उन्होंने स्वीकार किया है कि वेदों के काल-निर्णय के विषय में निश्चित तिथि निर्धारित करना सम्भव नहीं है। व्हिट्‌ने, स्काडर, जैकोबी आदि विद्वानों ने उसकी तीव्र आलोचना की है और इस मत को सर्वथा विवेकहीन ही बतलाया है।

इस विषय में सन् १८९३ में किये गये अनुसंधान का विशेष महत्त्व है। एक ही समय में जर्मनी के प्रसिद्ध नगर बान में प्रोफेसर जैकोबी और बम्बई कारावास में प्रकांड भारतीय विद्वान् लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपने-अपने तर्क

एवं उक्तियों के आधार पर विद्वानों के समक्ष एक नवीन धारणा प्रस्तुत की। यद्यपि उनके विवेचन की पद्धति पृथक् थी, दोनों ही विद्वान् लगभग एक ही निर्णय पर पहुंच गये। जैकोबी को ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए एक ऐसा वर्णन मिला जिसमें यह उल्लेख था कि कृत्तिका नक्षत्र के उदित होने के समय वासन्ती संक्रान्ति[1] हुई। ज्योतिष के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया कि उक्त संक्रांति ई० पू० २५०० में हुई। अतः ब्राह्मण ग्रन्थ इस काल के पूर्व अवश्य रचे जा चुके थे और वेदों का समय निश्चित ही इस काल से बहुत पूर्व होगा। इस प्रकार अनुमान करते हुए ई० पू० ४५०० तक वेदों का रचना-काल पहुंच गया। इसी प्रकार बाल गंगाधर तिलक ने ऋग्वेद संहिता के आधार पर एक वर्णन प्रस्तुत किया जिसमें कि मृगशिरा नक्षत्र के उदित होने पर वासन्ती संक्रांति का उल्लेख था। ज्योतिष के आधार पर गणित द्वारा उन्होंने यह निर्णय किया कि इस प्रकार की संक्रांति ई० पू० ४५०० में हुई और ऋग्वेद के सर्जन-काल को ई० पू० ६००० के लगभग का अनुमान किया।

ह्यूगोविंकलर ने सन् १९०७ ई० में एशिया माइनर के बोधाजकोई नामक स्थान में खुदाई का अनुसंधान करते हुए एक मृत्तिका फलक प्राप्त किया जिसमें उस देश के तत्कालीन राजाओं द्वारा किये गये संधिपत्रों का उल्लेख था। ये संधिपत्र निश्चित प्रमाणों के आधार पर ई० पू० १४०० के लगभग माने जाते हैं जब कि उक्त फलक का निर्माण हुआ होगा। इन संधिपत्रों में उभयपक्ष के देवताओं का संरक्षकों के रूप में आह्वान किया गया है। उन देवताओं के साथ-साथ वैदिक देवता मित्र, वरुण, इन्द्र इत्यादि का भी उल्लेख है परन्तु उनके नाम कुछ परिवर्तित रूप में लिखे गये हैं, जैसे वरुण का उरुन, मित्र का मितर तथा इन्द्र का इन्दर। इससे प्रतीत होता है कि उस समय वेद एवं वैदिक देवताओं का प्रसार एशिया माइनर जैसे भारत के सुदूरवर्ती देशों में भी हो गया था और वेदों का इतना

१. वसन्त ऋतु में दिन रात के बराबर होने को वासन्ती संक्रांति कहते हैं जो अंग्रेजी कलेन्डर के अनुसार २२ मार्च को होती है।

प्रचार हो गया था कि भाषा का रूप भी बदलने लगा था जिस कारण इन विकृत शब्दों का फलक में प्रयोग हुआ है। यदि इस परिवर्त्तन और विकास को एक सहस्र वर्ष भी माना जावे तो ऋग्वेद के रचना-काल को ई० पू० २५०० मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार हमने ऋग्वेद के रचनाकाल के विषय में विभिन्न विद्वानों की भिन्न धारणाओं का विवेचन किया है। इस सब विवेचन के बाद भी पर्याप्त अन्वेषण के अभाव में हम वेदों का कालनिर्णय करने में असमर्थ ही हैं। साथ ही साथ भारतीय गणना को किस आधार पर असंगत माना जावे, यह भी विचारणीय है। जैकोबी और तिलक के मतों पर टिप्पणी करते हुए विन्टरनिट्ज़ का मत है कि ज्योतिष के आधार पर अवलम्बित किया हुआ ऋग्वेद का समय पूर्णत: प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि जिन वैदिक स्थलों के आधार पर ऐसा निर्णय किया गया है वे पूर्णरूपेण असंदिग्ध नहीं हैं। अतः हमको भारतीय इतिहास के आधार पर ही यह कालनिर्णय करना पड़ता है। वेदों की रचना का विकासकाल तथा ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों का सर्जनकाल ई० पू० २५०० से २००० तक, मुख्य रचनाकाल २००० से १२०० तक तथा समाप्तिकाल १२०० से ८०० तक विन्टरनिट्ज ने माना है। इस विषय में गवेषणा बहुत अपूर्ण है परन्तु पश्चिमीय विद्वानों के द्वारा किये गये अनुसंधान के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वेद २००० ई० पू० में अवश्यमेव विद्यमान थे।

भारतीय विद्वानों के सिद्धान्त के अनुसार वेद परमात्मा द्वारा रचे गये और उनमें समस्त विद्या का मूल रूप से समावेश है। एक सहज प्रश्न उठता है कि हम संसार में समस्त ग्रन्थ मनुष्यों द्वारा रचे हुए देखते हैं तो वेदों में ही क्या विशेषता है कि उनकी रचना परमात्मा द्वारा की हुई मानी जावे। मनुष्य जो कुछ ज्ञानोपार्जन करता है वह उसके शिक्षक एवं समाज की शिक्षा का ही परिणाम होता है। यदि उसको कुछ भी न सिखाया जावे और जन्म से ही अन्य मनुष्यों से पृथक् रखा जावे तो वह पशुओं के समान ही चेष्टा करने लगेगा। सृष्टि के आरंभ में जब मनुष्य उत्पन्न हुआ तब उसको शिक्षा देनेवाला कोई अन्य व्यक्ति न था। वह स्वतः किसी प्रकार ज्ञानोपार्जन नहीं कर सकता था। अतः प्राकृतिक नियमों के द्वारा

कुछ ज्ञान कार्य-संचालनार्थ अवश्य प्राप्त हुआ होगा। वही ज्ञान वैदिक ज्ञान के नाम से प्रसिद्ध हुआ और चारों वेदों में उसी का समावेश हुआ है।

जब परमात्मा ने वेदों का प्रकाश किया तो अनेक ऋषियों ने उनका मनन करना आरम्भ किया। इस प्रक्रिया में जिस ऋषि ने जिस मन्त्र पर मनन कर उसके अर्थ को समझा, वह उस मंत्र का द्रष्टा कहलाया। प्रत्येक मंत्र के विनियोग में इन ऋषियों का नाम स्मरणार्थ अब तक लिखा जाता है।

पाश्चात्य विद्वान् भारतीय विद्वानों के इस सिद्धान्त को कि वेदों की रचना ईश्वर द्वारा हुई नहीं मानते। उनका यह भी विश्वास है कि वेद में प्रयुक्त होने वाले व्यक्तिवाचक नाम किसी व्यक्तिविशेष या स्थानविशेष के ही नाम हैं। उनका यह भी कथन है कि ऋग्वेद का कुछ भाग नाट्यसाहित्य का प्राचीनतम रूप है। उन्होंने ऋग्वेद के कुछ ऐसे सूक्तों की ओर संकेत किया है जिनमें नाट्यसाहित्य का ऐसा रूप मिलता है। कीथ ने लिखा है कि ऋग्वेद में लगभग १५ ऐसे सूक्त हैं जिनमें दो या अधिक वक्ताओं के बीच सम्भाषण प्रस्तुत किया गया है। संवाद ही नाट्यसाहित्य का प्राथमिक रूप है और बाद में उसको अभिनय का पुट दिया गया। इनमें से कुछ सूक्त ऐसे हैं जिनमें उनके मंत्रों के ऋषियों के मध्य में ही संवाद माना गया है। यूरोपीय विद्वान् इन ऋषियों को वेदों का मनन करनेवाला द्रष्टा न मान कर रचयिता ही मानते हैं और अपना उक्त मत प्रदर्शित करते हैं।

ऋग्वेद में पाये जानेवाले प्रमुख संवाद-सूक्त निम्नलिखित हैं जिनमें इस प्रकार संवाद पाया जाता है—

१	मण्डल	१	सूक्त	१७९	अगस्त्य और लोपामुद्रा
२	,,	३	,,	३३	विश्वामित्र एवं विपाशा (झेलम) तथा शतद्रु (सतलज) नदियां
३	,,	४	,,	१८	इन्द्र, अदिति और वामदेव
४	,,	४	,,	४२	इन्द्र और वरुण
५	,,	७	,,	८३	वशिष्ठ और सुदास
६	,,	१०	,,	१०	यम और यमी
७	,,	१०	,,	२८	इन्द्र, वसुक और वसुक-पत्नी

८	मण्डल	१०	सूक्त	५१	देवताओं द्वारा अग्नि की स्तुति
९	,,	१०	,,	८६	इन्द्र, इन्द्राणी और वृषा कपि
१०	,,	१०	,,	९५	पुरुवस् और उर्वशी
११	,,	१०	,,	१०८	सरमा और पणि

मैक्समूलर का मत है कि कथित संवाद-सूक्त इन्द्र, मरुत तथा अन्य देवताओं की स्तुति में उनके अनुयायियों द्वारा गाये जाते थे। लेवी का कथन है कि सामवेद काल में गान-कला अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। ऋग्वेद में ऐसी महिलाओं का उल्लेख है जो सुन्दर परिधान धारण कर नृत्य और गान द्वारा अपने प्रेमियों को आकृष्ट किया करती थीं। ऋग्वेद में मनुष्य के नाचने-गाने के लिए भिन्न-भिन्न विधियों और प्रथाओं का वर्णन है। इन समस्त कलाओं के संवाद में समाविष्ट होने के उपरान्त ही नाट्यसाहित्य का जन्म हुआ होगा।

नृत्य और गान तथा रूपक में एक स्वाभाविक सम्बन्ध है जिसका बड़ी सरलता से अनुभव किया जा सकता है। इस समय यह कहना कठिन है कि वैदिक काल में उस नृत्य का मूल रूप क्या था। सम्भव है कि यज्ञ के अवसर पर ये नृत्य विधिवत् प्रतिपादित किये जाते होंगे। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा ने जिस समय सृष्टि-रचना सम्पन्न की, उस समय भी एक दिव्य प्रकार के नृत्य का अभिनय हुआ। कुछ लोगों का अनुमान है कि इसी नृत्य की कल्पना कर कालान्तर में उसका रूपक में समावेश किया गया होगा, यद्यपि इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला है। सृष्टि के आरंभ में यूनान देश में भी लोग परमेश्वर की रचयित्री शक्ति की प्रशंसा कर उस पर मुग्ध हो नाचने लगते थे। इसी प्रकार के नृत्यों से यूनान देश में नृत्यकला का जन्म हुआ होगा किन्तु हमारे देश के साहित्य में इस प्रकार के नृत्यों का कोई उल्लेख नहीं मिला है। अतः यह मत अनुचित ही प्रतीत होता है।

डाक्टर हर्टल का मत है कि वैदिक ऋचाएँ सदा से ही गायी जाती थीं। एक गानेवाले के लिए दो पात्रों का संवाद प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। अतः सम्भव है कि ऐसे सूक्तों को नाटकीय रूप प्रदान करने के उद्देश्य से यह दो गायकों का गान होता हो। इस कला का अवशेष जयदेव कृत गीतगोविन्द में कुछ परिवर्तित रूप

में मिलता है। वैदिक संवाद-सूक्तों के विकसित रूप में परिवर्तित होने में राज यात्राओं के अवसर पर किये गये उत्सवों का विशेष भाग है। विष्णु, कृष्ण, रुद्र, शिव की पूजा वैदिक काल से प्रचलित है। इन पूजाओं का भी नाट्यसाहित्य के विकास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

प्रारंभिक अवस्था में ये संवाद-सूक्त ऋत्विजों द्वारा यज्ञ के अवसर पर गाये जाते थे जिनमें प्रायः देव या दानवों की स्तुति अथवा निन्दा समाविष्ट रहती थी। यद्यपि ऋग्वेद के अधिकतर अंश यज्ञ के विधान के हेतु ही लिखे गये हैं, उनमें फिर भी कुछ भाग ऐसा अवश्य है जिसकी साहित्यिक दृष्टि से उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। विश्वामित्र और वशिष्ठ तथा सुदास और दशराज्ञ के युद्धों के वर्णन इस कथन के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ऋग्वेद में पायी जानेवाली भाषा और उसके विभिन्न रूपों पर विवेचना करने से यूरोपीय विद्वानों को ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के सर्जन में बहुत लम्बा काल लगा जिस कारण उसमें कई कालों की भाषा पायी जाती है तथा उसका नवीन और प्राचीन रूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के नवील भागों में यज्ञ के अवसर पर गेय सूक्त क्रमशः कम होते गये तथा साहित्यिक सूक्त बढ़ते गये। उक्त संवाद-सूक्त उन्हीं नवीन पश्चाद्वर्ती सूक्तों के अन्तर्गत ही समाविष्ट हैं। यही कारण है कि ऋग्वेद के अन्तिम दशम मंडल में ऐसे सूक्त अधिक पाये जाते हैं जो कि अपेक्षाकृत नवीन ही प्रतीत होता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, डा० हर्टल इस विषय में कहते हैं कि ऋग्वेद के इन संवाद-सूक्तों में गायक दो या अधिक श्रेणियों में विभक्त थे जो कि अपनी योग्यता के अनुसार वक्ता का भाग लिया करते थे। इस मत के विरुद्ध कीथ का कथन है कि ऋग्वेद के सूक्त सामवेद के समान केवल गाये ही न जाते थे, अपितु एक विशेष प्रकार से उच्चरित भी किये जाते थे। दुर्भाग्यवश इस विषय में अधिक ज्ञान नहीं है कि उन उच्चारणों का मूल रूप क्या था। अतः सम्भव है कि एक ही वक्ता या गायक भिन्न-भिन्न प्रकार के दो स्वरों का उच्चारण कर इस भिन्नता को द्योतित करता हो। अतः दो या अधिक वक्ताओं का इसमें मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

ऋग्वेद के समस्त छन्द केवल यज्ञ के अवसर पर ही प्रयुक्त होने के हेतु नहीं

लिखे गये अपितु उनमें नाना प्रकार की सत्य विद्याओं का समावेश है। संसार के इस प्राचीनतम ग्रन्थ में अध्यात्म विद्या सम्बन्धी अनेक प्रकार के मन्त्र पाये जाते हैं। यम और यमी का संवाद भी इसी प्रकार का एक सूक्त है। सातवें मंडल में कुछ ऐतिहासिक सूक्तों का भी इसमें समावेश है। कुछ सूक्त मृत्यु के अवसर पर दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करने के हेतु ही लिखे गये हैं। इस प्रकार यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद के समस्त छन्द केवल यज्ञ में ही प्रयुक्त होने के हेतु नहीं लिखे गये। कुछ सूक्तों में साहित्यिक चमत्कार भी दिखाये गये हैं जिनमें संस्कृत नाटक-साहित्य का प्राचीनतम रूप समाविष्ट है।

ऋग्वेद के अधिकांश मंत्र यज्ञीय अवसर पर प्रयुक्त होते थे तथा संस्कृत नाटकों के विकसित होने पर ये वैदिक नाटक समाप्तप्राय ही हो गये। यहां तक कि अब उनके अभिनय का कहीं उल्लेखमात्र भी नहीं मिलता। पश्चाद्वर्ती नाट्य-साहित्य एवं अभिनय के अधिक विकसित होने पर इन वैदिक नाटकों का सर्वथा लोप सा ही हो गया। डा० हर्टल की सम्मति के अनुसार ये संवाद-सूक्त बहुत ही प्रारंभिक रूप में थे और अपेक्षाकृत बहुत अधिक रोचक नाट्यसाहित्य के पश्चाद्-वर्ती काल में विकसित होने के कारण इनकी नाट्यमहत्ता का अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

संस्कृत नाटक-साहित्य की एक विशेषता यह है कि उसमें गद्य-पद्य का सम्मिश्रण सामान्य रूप से पाया जाता है। यह कला न्यूनाधिक रूप में अन्य नाटकों में भी पायी जाती है। इस शैली के विषय में विंडिश, ओल्डेनबर्ग आदि यूरो-पीय विद्वानों ने अपनी अद्भुत सम्मति प्रदान की है। उनका विचार है कि भारत यूरोपीय भाषा के प्राचीनतम रूप में एक दिव्य प्रकार के महाकाव्य का अस्तित्व विद्यमान था जिसमें विचार-गाम्भीर्य की पराकाष्ठा एवं गद्य-पद्य का सम्मिश्रण समाविष्ट था। उसी भाषा के आधार पर संस्कृत में गद्य-पद्यमय नाट्यसाहित्य का जन्म हुआ। पिशेल का इसके विरुद्ध मत है कि इन वैदिक संवाद-सूक्तों में आरम्भ में गद्य भी होगा। यज्ञीय अवसरों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त रहने के कारण काला-न्तर में उनका लोप हो गया। इस विचार के विरुद्ध हमारा कथन है कि वेद आरम्भ से अब तक ज्यों के त्यों अपरिवर्तित रूप में विद्यमान हैं। उनके जटिल व्याकरण,

स्वरकौशल एवं सन्धि-विज्ञान के कारण उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना सम्भव नहीं है। इसलिए नाटक-साहित्य के गद्य-पद्य की शैली का उद्‌गम वेदों से मानना सर्वथा अनुपयुक्त ही है।

यद्यपि वेदों में इस प्रकार का कोई साहित्य प्राप्त नहीं होता, फिर भी कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ऐतरेय ब्राह्मण में शुनः शेप की कथा तथा शतपथ ब्राह्मण में पुरुवस् और उर्वशी की कथा इस प्रणाली के प्राचीनतम रूप हैं। परन्तु उनके कथानक और विषय पर दृष्टिपात करने से हम उन्हें नाटक-साहित्य का रूप किसी प्रकार मानने को उद्यत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि महात्मा गौतम बुद्ध के काल में उनकी रचना बौद्ध जातकों में ही इस प्रणाली का प्रथम रूप पाया जाता है। भारतीय विद्वानों की धारणा के अनुसार उस काल तक नाटक-साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था और उसके प्रथम उपलब्ध आचार्य महाकवि भास का प्रादुर्भाव भी हो चुका था या उस समय के बहुत ही समीप होनेवाला था। इसलिए बौद्ध जातकों के उपलब्ध अंश के आधार पर उसको नाट्यसाहित्य का प्रथम रूप मानना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है।

इस प्रकार भारतीय विद्वानों की धारणा है कि यज्ञीय अवसरों को सुमनोहर बनाने के लिए ही नाटकसाहित्य का जन्म हुआ। गद्य-पद्य के सम्मिश्रित प्रयोग के उद्‌गम के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इसका कारण यह हो सकता है कि इन वैदिक नाटकों की आरम्भिक अवस्था में गद्य न हो और कुछ समय पश्चात् उनको नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त बनाने के लिए गद्य का समावेश किया गया हो, जो कि इन सूक्तों के नाटकीय महत्त्व के लुप्त होने के साथ-साथ विलुप्त हो गया हो। प्रमाणाभाव के कारण इस विषय में भी किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। जब वेदों में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है, तो इस प्रकार का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

विभिन्न विद्वानों के मतानुसार इन संवाद-सूक्तों के रूपों पर विवेचना करने के उपरान्त एक सहज प्रश्न उपस्थित होता है कि संवाद केवल ऋग्वेद में ही नहीं अपितु ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद जैसे उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में एवं पुराण, रामायण तथा महाभारत आदि महाकाव्यों में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, फिर

ऋग्वेद को ही नाटकसाहित्य का प्राथमिक रूप क्यों कर माना जावे। कालचक्र के अनुसार ऋग्वेद हमारे साहित्य का प्राचीनतम रूप है, केवल संवाद को नाटक नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि उसकी विद्यमानता में भी अभिनय सम्बन्धी क्रियाकलापों के अभाव में नाटक की कल्पना करना सम्भव नहीं है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने स्वीकार किया है कि नाट्यसाहित्य में संवाद समाविष्ट करने का मूल स्रोत ऋग्वेद ही है, जिसके आधार पर पश्चाद्वर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं में इस प्रणाली का श्रीगणेश किया। अतः हम इन सूक्तों को नाटक न मानते हुए यह स्वीकार करते हैं कि नाटकीय संवाद के मूल स्रोत के रूप में उनको इस साहित्य विशेष का प्राचीनतम आकार अवश्य कहा जा सकता है। अपेक्षाकृत नवीन साहित्य जिसमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद इत्यादि का समावेश है केवल दार्शनिक वार्त्तालाप तक ही सीमित है और बाद में कभी उनकी सहायता से इस प्रकार की नाट्यप्रवृत्ति नहीं मिली।

५. धर्म और रूपक

अभिनीत रूपकों का सर्वप्रथम उल्लेख पतंजलि मुनि कृत महाभाष्य में मिलता है जिसका अवलोकन करने से विदित होता है कि उनमें अभिनय के अन्तर्गत वार्त्तालाप को दो विभागों में विभक्त किया गया है। नट उस काल में केवल वार्त्तालाप तक ही सीमित नहीं रहते थे अपितु गान एवं नृत्य में भी पर्याप्त भाग लिया करते थे। उक्त ग्रन्थ का अवलोकन करने से विदित होता है कि रूपक उस समय अपनी आरम्भिक एवं अविकसित दशा में ही विद्यमान था।

महाभाष्य में कंसवध नामक रूपक का उल्लेख है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कंस के वध किये जाने की कथा का समावेश है। यह नाटक अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है इसलिए हम इसके विषय में शैली, कथानक आदि का विस्तृत विवेचन करने में असमर्थ ही हैं। इस नाटक में कंसपक्षी लोग काले तथा कृष्णपक्षी लोग लाल वस्त्र धारण करते थे। यह काले तथा लाल रंग के वस्त्रों को दो विपक्षियों में धारण करवाना कुछ विद्वानों के मतानुसार ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में अथवा अन्धकार और प्रकाश में सामंजस्य करने का द्योतक है। इसी प्रकार यह भी वर्णन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी अपनी मर्यादानुसार भिन्न-भिन्न रंग के वस्त्र धारण करते थे और इस प्रकार अभिनय में अपनी धार्मिक अवस्था का परिचय दिया करते थे।

रूपक में धार्मिकता के भावों को अध्ययन करने के लिए हास्यमय पात्र विदूषक की उत्पत्ति एवं उसके स्थान पर भी ध्यान देना आवश्यक है। समस्त भारतीय नाटकसाहित्य के अवलोकन करने से विदित होता है कि यह विदूषक रूपक के नायक का अभिन्न साथी है। इसके वर्ण के विषय में विद्वानों में मतभेद है कि वह शूद्र था अथवा ब्राह्मण था। वैदिक सोम यज्ञ में एक शूद्र को प्रतिमा के समान समझ कर उपहास किया जाता था। प्रोफेसर हिलेब्रानड्ट के मतानुसार यह विदू-

षक उसी शूद्र का अवशेष है जो रूपक में प्राकृत भाषा में ही सम्भाषण करता है और बड़े ही सुन्दर ढंग से पाठकों का मनोरंजन भी सम्पन्न करता है। महिलाओं के मध्य में उसे स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। सोम यज्ञ के एक पात्र का मनोरंजन में उसी भांति भाग लेना रूपक में धार्मिकता का परिचायक है।

कृष्ण-भक्ति का भी रूपक पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अपने दिव्य अमानुषिक कृत्यों के कारण भगवान् कृष्ण का स्थान इतिहास में सदा देदीप्यमान रहा है और उन्हें विष्णु का अवतार माना गया है। उनकी बाल-लीलाओं का सदा से ही अभिनय होता चला आया है। वह दृश्य चित्ताकर्षक है जब कंस के दरबार में कृष्ण कंस के सहायक कुश्ती लड़नेवालों को परास्त कर उसका वध करते हैं और कृष्ण अपनी माता देवकी के साथ चित्रित किये जाते हैं तो यशोदा की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। इधर अप्सराएँ और गंधर्व अपने दिव्य नृत्य में लीन रहते हैं।

कृष्ण की बाल-लीलाओं तथा गोपिकाओं के साथ क्रीड़ा का भी रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। मुरली बजा कर पशु-पक्षियों को मुग्ध कर लेने की उनकी दिव्य विधि सर्वविदित ही है। राधा के साथ उनकी प्रेममयी लीलाओं का प्रदर्शन किया गया है जिनका कि पश्चाद्वर्ती संस्कृत साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। जयदेव कृत गीतगोविन्द इस विषय में उल्लेखनीय है जिसमें इस प्रकार की अनेक कृष्ण-लीलाएँ समाविष्ट हैं। भारतीय जनता आरम्भ से ही अपनी धार्मिक भावना से ओत-प्रोत होकर कृष्ण का गुणगान करती चली आयी है। उनकी जन्मभूमि ब्रज में शौरसेनी प्राकृत का प्रचार हुआ जो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में ब्रजभाषा की ज़न्मदात्री हुई। इस प्रकार कृष्ण के चरित्र का पश्चाद्वर्ती अनेक नाटककारों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने ग्रंथों में कृष्ण चरित्र के आधार पर कथानक का निर्माण किया।

कृष्ण-भक्ति के समान ही संस्कृत नाटकसाहित्य में शिव-भक्ति का भी विशेष महत्त्व है। पार्वती के साथ शिव ने मनोरंजन में तांडव और लास्य नृत्यों को जन्म दिया। वैदिक काल में शिव की आराधना आरम्भ हो गयी थी। इन लास्य और

तांडव नृत्यों का उत्तरकालीन संस्कृत नाटकसाहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा जिसके आधार पर नृत्यकला का इसमें समावेश किया गया। यही कारण है कि अनेक संस्कृत नाटककार शैवमतानुयायी हुए हैं और उन्होंने अपने ग्रंथों के आरम्भिक श्लोक नान्दी में इष्टदेव शिव की आराधना का समावेश किया है जिनमें महाकवि शूद्रक, कालिदास एवं सम्राट् हर्षवर्धन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कृष्ण और शिव-भक्ति के समान ही राम भक्ति की भी इस दिशा में किंचिद्-मात्र भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। रामचंद्र जी का जीवन सदा से ही संसार-वासियों को अपना जीवन उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा देता चला आया है। इसी कारण रामचरित सदा से ही लोक में विख्यात रहा है। इसी उद्देश्य को लेकर रामलीला का प्रजा के मनोरंजनार्थ समय-समय पर अभिनय होता चला आया है। कुछ विद्वानों का यही मत है कि रामलीला के रूप में अभिनीत नाटकीय रूप कालान्तर में विकसित होकर आधुनिक अभिनीत रूपकों का जन्मदाता हुआ।

महात्मा गौतम बुद्ध ने भारतीय धार्मिक दशा का आमूल परिवर्त्तन कर देश के सामाजिक जीवन में एक विशेष क्रान्ति उत्पन्न कर दी। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह सरलतम भाषा में जनसाधारण के मध्य उपदेश दिया करते थे जिससे उन पर आशातीत प्रभाव पड़ता था। उनके सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कुछ नाटकसाहित्य का भी सर्जन हुआ। दुर्भाग्यवश बौद्ध धर्म के आधार पर लिखा हुआ इस प्रकार का नाटक-साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं होता। अश्वघोष कृत शारिपुत्र प्रकरण तथा सम्राट् हर्षवर्धन कृत नागानन्द नामक नाटक इस विषय में उल्लेखनीय हैं।

महात्मा गौतम बुद्ध के काल में भारत की तत्कालीन साहित्यिक दशा पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि उस समय भी नाटकसाहित्य का पर्याप्त प्रचार था। एक किंवदन्ती के अनुसार पाटलिपुत्र के तत्कालीन सम्राट् बिम्बसार ने दो नागा राजाओं के आगमन के उपलक्ष्य में एक नाटक में स्वयं भाग लिया था जिसकी अध्यक्षता महात्मा गौतम बुद्ध द्वारा स्वयम् की गयी थी। यह प्रसिद्ध नाटक शोभावती नगरी में अभिनीत किया गया था। इसी अवसर पर एक कुव-लया नामक स्त्री पात्रा को बौद्ध धर्म की दीक्षा मिली थी। यद्यपि महात्मा गौतम

बुद्ध के जीवनकाल में अभिनीत इन नाटकों का मूल रूप उपलब्ध नहीं होता, पश्चाद्वर्ती साहित्य पर इन कृतियों का विशेष प्रभाव पड़ा है। महात्मा गौतम बुद्ध के अहिंसा और सत्य के सिद्धान्तों का प्रचार करने में इन ग्रंथों का निश्चय ही सक्रिय भाग रहा है।

रामायण और महाभारत के गेय प्रसंगों से ही कालान्तर में नाटक-साहित्य ने जन्म लिया। यह भावना रूपक के अन्तर्गत धार्मिक भावना को परिपूर्ण करने में बहुत ही सहायक सिद्ध हुई है। पतंजलि मुनि कृत महाभाष्य में जिस कंस-वध नामक नाटक का उल्लेख है उसमें गेय प्रसंगों एवं महाभारत के उद्धृत श्लोकों का विशेष भाग है। मैकडौनेल की सम्मति के अनुसार महाभाष्य का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० है परन्तु यह मत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। महाभाष्य में पायी जानेवाली भाषा एवं उसकी शैली पर दृष्टिपात करने से वह बहुत पूर्व की रचना प्रतीत होती है और इस प्रकार नाटकसाहित्य भी उस काल का ही है।

पतंजलि मुनि के समय में सम्भवतः पश्चाद्वर्ती नाटक-साहित्य के समान ही गद्य भाषाओं में अपनी योग्यता के अनुसार ही संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का पात्रों द्वारा प्रयोग किया जाता था। कंसवध उस समय बहुत ही लोकप्रिय ग्रंथ रहा होगा और उसमें महाभारत के श्लोकों का विशेष रूप से समावेश किया गया होगा। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में भी रामायण और महाभारत के गेय प्रसंगों को नाटक-साहित्य का प्राथमिक रूप माना है। मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशों में शौरसेनी प्राकृत बोली जाती थी। इसी कारण कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी नाटकों में इस भाषा का विशेष रूप से समावेश हुआ है।

प्रो० लेवी का मत है कि सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में ही नाटक-साहित्य का जन्म हुआ। प्राकृत साधारण रूप में बोलचाल की भाषा थी जब कि संस्कृत साहित्यिक एवं धार्मिक कार्यों के लिए अधिक उपयुक्त तथा सीमित थी। अतः अपनी रचना को लोक में अधिक विख्यात बनाने के हेतु सर्वप्रथम प्राकृत में नाटक-साहित्य का सर्जन करना अधिक उपयुक्त समझा गया। हमें यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि संस्कृत ही पूर्ववर्ती थी और उसी में अपना साहित्यिक चमत्कार दिखाने के लिए नाटकसाहित्य की रचना की गयी होगी।

डा० रिजवे ने संस्कृत रूपक का उद्‌गम धार्मिक भावना के आधार पर माना है। उनका मत है कि न केवल संस्कृत तथा यूनानी रूपक अपितु समस्त संसार के नाटक-साहित्य का उद्‌गम धार्मिक भावना के आधार पर ही हुआ है। उनका विचार है कि सर्वप्रथम रूपक मृतक के प्रति समवेदना प्रकट करने के अवसर पर ही अभिनीत किये जाते थे। उस समय के लोगों का विचार था कि मृत्यु हो जाने के अवसर पर नाटकीय उत्सव मनाने पर दिवंगत आत्मा को शान्ति मिलती थी। राम और कृष्ण के चरित्र भी इसी उद्देश्य से लिखे गये हैं। रिजवे का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। मृत्यु एक दुःखद अवसर है और उस पर प्रसन्नता मनाना किसी प्रकार उचित नहीं। उच्च कुलीन पुरुषों के चरित्र से भी प्रेरित होकर कवियों ने नाटक-साहित्य की रचना की होगी।

महाभारत के अन्तर्गत हरिवंश में मृत्यु के अनन्तर मृतक के सम्मान में अभिनीत किये गये कतिपय नाटकों का उल्लेख मिलता है। उसमें पायी जानेवाली शैली के आधार पर वह नाटक-साहित्य का प्राचीनतर रूप नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः उसकी रचना संस्कृत के सर्वोत्तम नाटककार कालिदास और अश्वघोष के पश्चात् ही हुई। महाभारत का वर्तमान रूप चौथी शताब्दी ई० में ही प्राप्त हुआ और यह अंश बाद की ही रचना है। फिर भी हरिवंश के पश्चाद्‌वर्ती नाटक-साहित्य पर प्रभाव जानने के लिए हरिवंश के कुछ स्थलों पर विचार कर लेना चाहिए।

उसमें वर्णित एक कथा के अनुसार अंधक की मृत्यु के अवसर पर यादवों ने खूब हर्षोल्लास मनाया। उनके घर की महिलाओं ने भी इस अवसर पर गाने-नाचने में पर्याप्त भाग लिया। कृष्ण ने स्वर्ग के देवताओं और अप्सराओं को भी इसमें भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा किये गये राक्षसों के वध पर हर्ष प्रकट किया गया। कंस-वध के उपरांत नारद मुनि ने स्वयं आकर ऐसे हर्षोल्लास में भाग लिया एवं उपस्थित दर्शकों का मनोरंजन किया।

सत्यभामा "कृष्ण की एक पटरानी", केशव, अर्जुन, बलदेव तथा रैवत की पुत्री ने भी इस महोत्सव में पर्याप्त भाग लिया। उस कुमारी का इस सुअवसर

पर भाग लेना इतना मनोरंजक था कि वह पश्चाद्वर्ती नाटक-साहित्य के विदूषक से समता रखता है।

हरिवंश के एक दूसरे स्थल में इन्द्र के आज्ञानुसार कृष्ण द्वारा वज्रनाभ नामक राक्षस के वध की कथा का वर्णन है। वज्रनाभ अपने निवास के लिए अधिक स्थान चाहता है जिससे जनसाधारण में उसके अत्याचारों और उपद्रवों के विस्तृत होने की अधिक संभावना है। कृष्ण वेष बदल कर उसकी हत्या करते हैं जिसके पश्चात् असाधारण हर्ष मनाया जाता है। विदूषक मनोरंजन का अभिनय करता है तथा रूपवती स्त्रियां भी नृत्य एवं गान में यथायोग्य भाग लेती हैं। रामायण की कथा सुनाई जाती है। उत्सव के समाप्त होने पर कृष्ण कुबेर की कथा को सुनकर दर्शक बहुत ही प्रभावित होते हैं।

इन दोनों हरिवंश की कथाओं के आधार पर विद्वानों का मत है कि रूपक में धार्मिक भावना का समावेश किया गया और किसी की मृत्यु के अवसर पर किये गये रूपकों से ही संस्कृत रूपकों का जन्म हुआ। इन स्थलों को देखने से विदित होता है कि यह उत्सव मृत्यु के अवसर पर समवेदना प्रकट करने के लिए नहीं अपितु दुष्टों के वध पर हर्षोल्लास मनाने के हेतु किये जाते थे। इस प्रकार रिजवे का यह मत कि नाटक आरंभ में समवेदना प्रकट करने के हेतु रचे गये और उन्हीं का विकसित रूप संसार का आधुनिक नाटक-साहित्य हुआ, सर्वथा निराधार है।

हमें यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ता है कि संस्कृत नाटक-साहित्य पर धार्मिकता के भावों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा जिसमें शिव, राम एवं कृष्ण की भक्ति प्रमुख रही। राम और कृष्ण की लीलाएँ भी उपर्युक्त कथन की साक्षी हैं। शिव की स्तुति प्रायः नान्दी या भरतवाक्य तक ही सीमित रही।

६. महाकवि भास

(चौथी शताब्दी ई० पू० या इसके समीप का समय)

सन् १९०९ ई० के पूर्व विद्वानों की धारणा थी कि महाकवि कालिदास ही संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम नाटककार हैं। यही विचार प्रो० मेकडोनेल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में भी प्रकट किया है। सन् १९०९ ई० में त्रावणकोर राज्य के तत्कालीन महाराजा की आज्ञा से स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री टी० गणपति शास्त्री को पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करते समय तीन-चार सौ वर्ष पूर्व के लिखे हुए तेरह रूपक मिले जिनको उन्होंने महाकवि भास की अमर कृतियों के रूप में घोषित किया। कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में भास का इस प्रकार उल्लेख किया है—

"प्रथितयशसां भाससौमिल्ल-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः।"

अर्थात् विख्यात यशवाले भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आदि लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की रचनाओं का अतिक्रमण कर किस प्रकार वर्तमान कवि कालिदास की रचनाएँ अधिक सम्माननीय हो सकती हैं। इससे विदित होता है कि कालिदास के समय में इन तीनों नाटककारों का यश पर्याप्त विकसित हो चुका था। भास की रचनाएँ तो उपलब्ध हो गयी हैं परन्तु सौमिल्ल और कविपुत्र के काव्य-सर्जन और जीवन के विषय में हमें कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। हम आशा करते हैं कि स्वतंत्र भारत में विद्या की सर्वांगीण उन्नति के साथ इस लुप्त साहित्य के पुनरुद्धार पर भी सम्यक् ध्यान दिया जायगा। भास के रूपकों में पश्चाद्वर्ती कवियों के रूपकों के नियम के प्रतिकूल, प्रस्तावना में कर्ता के नाम का उल्लेख नहीं है और प्रस्तावना के स्थान पर स्थापना शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस कारण इन ग्रन्थों के कर्ता के विषय

में कुछ मतभेद हो गया है। कतिपय पाश्चात्य विद्वान् भास के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते और इन्हें किसी अन्य कवि की रचना मानते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इन्हें भास की रचना स्वीकार कर लिया है। भास का अस्तित्व ही संस्कृत साहित्य में विवाद का विषय बन गया है जिस पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

जो विद्वान् इन रूपकों को भास-रचित नहीं मानते उनका निम्नलिखित कथन है—

(१) नवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नाटककार राजशेखर के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थकार ने भास का स्वप्नवासवदत्तकार के रूप में उल्लेख नहीं किया। १२वीं शताब्दी में रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण नामक एक ग्रन्थ रचा जिसमें स्वप्नवासवदत्त का यह श्लोक उद्धृत किया है—

"पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता॥" स्वप्न० ४।४

अर्थात् यहां पैरों से कुचले हुए फूल हैं और यह शिला भी गर्म हो रही है, इससे प्रतीत होता है कि निश्चय ही कोई इस स्थान पर बैठा था जो कि अकस्मात् मुझको देखकर चला गया। यह श्लोक उद्धृत ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसके आधार पर प्रो० सिलवन लेवी स्वप्नवासवदत्त को भास रचित नहीं मानते। इस श्लोक के प्रसंग पर विचार करने से विदित होता है कि चौथे अंक के प्रथम दृश्य के उपरान्त पद्मावती के सहसा हट जाने पर यह राजा उदयन की अपने विदूषक के प्रति उक्ति है। संभवत: किसी प्रतिलिपिकर्त्ता ने बाद में त्रुटिवश इसे छोड़ दिया हो।

काले ने अपने संपादित ग्रन्थ में इस श्लोक को उपयुक्त स्थान पर रखा है। यह कथन भी ठीक नहीं कि राजशेखर के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थकार ने स्वप्नवासवदत्त के रचयिता के रूप में भास का वर्णन नहीं किया है। अभिनवगुप्त, भोजदेव, सर्वानन्द, शारदातनय इत्यादि कितने ही ग्रन्थकारों ने भास के स्वप्नवासवदत्त के अनेक उद्धरण उपस्थित किये हैं और भास को उसका कर्त्ता बताया है। अतः भास का अस्तित्व अस्वीकार करना सर्वथा अनुचित है।

(२) इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका में एक आर्या उद्धृत की है जो स्वप्नवासवदत्त में नहीं पायी जाती। गणपति शास्त्री के मत के अनुसार यह आर्या कथावस्तु के लिए अनुपयुक्त है और संभवतः टीकाकार ने मूल ग्रन्थ का निर्देश करने में भूल की हो। विंटरनिट्ज ने उस आर्या को उपयुक्त स्थान पर आवश्यक बताया है। संभवतः बाद में विरोध के कारण वह छोड़ दी गयी हो।

(३) महेन्द्रविक्रम वर्मा ने 'मत्तविलास' नामक एक प्रहसन की रचना की जिसकी प्रस्तावना भास के समान ही है। अन्य नाटकों के विरुद्ध भास के रूपकों और मत्तविलास में नान्दी के उपरान्त सूत्रधार का प्रवेश होता है। इस आधार पर डा० बारनेट का मत है कि यह ग्रंथ भी महेन्द्रविक्रम या उसके किसी समकालीन कवि की रचना हो सकता है परन्तु भाषा, भरतवाक्य की आकृति तथा अन्य नाटक-प्रणाली में बहुत भेद है। अतः मत्तविलास और इन ग्रन्थों के रचयिता को केवल प्रस्तावना के कुछ भाग की आकृति से एक मानना उचित नहीं। मत्तविलास के रचयिता का नाम प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा है जबकि इन ग्रन्थों में नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि भास अवश्य ही एक विख्यात नाटककार थे जिनका यश कालिदास के समय में पर्याप्त रूप से विस्तृत हो चुका था।

भास के अस्तित्व विषयक तर्क

भास के अस्तित्व के पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जाते हैं—

(१) राजशेखर का कथन

नवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नाटककार राजशेखर ने अपने 'सूक्ति मुक्तावली' ग्रन्थ में भास का इस प्रकार उल्लेख किया है—

**"भास नाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥"**

अर्थात् भास के नाटकों के समूह की आलोचकों द्वारा अग्नि-परीक्षा करने पर स्वप्नवासवदत्त के यश को अग्नि झुलसाने में असमर्थ ही रही। इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि स्वप्नवासवदत्त भास का एक नाटक था और उन्होंने अनेक नाटक-ग्रन्थों की

रचना की। त्रावणकोर में जो तेरह रूपक उपलब्ध हुए हैं उनकी आकृति, भाषा और विचार में एक अद्भुत साम्य दीख पड़ता है जिसके कारण हम उनके एक ही लेखनी की कृति होने का निर्णय करने पर बाध्य होते हैं।

(२) आकृति में समता

(क) प्रस्तावना में कर्ता के नाम का उल्लेख नहीं है। पश्चाद्वर्ती शूद्रक, भवभूति, कालिदास आदि कवियों के रूपकों की प्रस्तावना में कर्ता के नाम का उल्लेख हुआ है, परन्तु इन उपलब्ध रूपकों में नहीं हुआ है।

(ख) प्रस्तावना के आरम्भ में अन्य रूपकों में नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है परन्तु इन रूपकों में सूत्रधार ही आरम्भ में नान्दी का पाठ करता है। नान्दी रूपक के आदि में इष्टदेव से पाठकों के कल्याण के लिए प्रार्थना होती है।

(ग) लगभग सभी रूपकों के अन्त में भरतवाक्य का अन्तिम चरण "राजसिंहः प्रशास्तु नः" अर्थात् 'सिंह के समान पराक्रमी राजा हमारी रक्षा करें' है।

(घ) बाण ने अपने हर्षचरित में भास का इस प्रकार उल्लेख किया है और उनके ग्रन्थों की विशेषता बतायी है—

"सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशोलेभे भासो देवकुलैरिव॥"

अर्थात् भास के रूपक सूत्रधार द्वारा आरम्भ होते हैं और इनमें पात्रों व पताकाओं का बाहुल्य है। पताका रूपक के अन्तर्गत उल्लिखित अन्तर्कथा को कहते हैं।

(३) भाषा-साम्य

भास ने अपनी रचनाओं में अनेक शब्द, वाक्य, श्लोक एक से ही कई ग्रन्थों में प्रयुक्त किये हैं। उन सब का यहां उल्लेख करना कठिन है। एक वाक्य उन्होंने स्वप्नवासवदत्त, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, ऊरुभंग, बालचरित, अभिषेक और पंचरात्र में प्रयुक्त किया है जो इस प्रकार है—

"एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। अये किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते, भवतु पश्यामि।"

स्वप्नवासवदत्त एवं बालचरित का भरतवाक्य एक सा ही है।

(४) विचारों की समता

भास की अनेक रचनाओं को देखने से एक ही प्रकार के विचार दो या अधिक ग्रन्थों में मिलते हैं। मध्यम व्यायोग में भीम और उनके पुत्र घटोत्कच का मिलन पंचरात्र में अर्जुन और अभिमन्यु के पिता-पुत्र-मिलन के समान है। इसी प्रकार अविमारक, मध्यम व्यायोग और स्वप्नवासवदत्त तीनों में गेंद के खेल का रोचक वर्णन है।

इन आधारों पर भास का अस्तित्व और उनका अनेक रूपकों की रचना करना सिद्ध हो जाता है।

भास का समय

कीथ का कथन है कि भास का प्रादुर्भाव दूसरी शताब्दी में हुआ। उनका एक श्लोक अश्वघोष के बुद्धचरित के समान का मिला है। इस प्रकार भास को अश्वघोष का पश्चाद्वर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। अश्वघोष महाराज कनिष्क के राजगुरु थे जिनका समय सन् ७८ से १२० ई० तक है। परन्तु यह मत केवल एक श्लोक की समता से पुष्ट नहीं होता क्योंकि भास ने अपनी रचना में कहीं बुद्धचरित या उसके कर्ता का उल्लेख नहीं किया है।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, कालिदास ने अपने प्रथम नाटकग्रंथ मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में भास का सादर उल्लेख किया है। अतः वह निःसन्देह कालिदास के पूर्ववर्ती थे। भारतीय विद्वानों ने कालिदास का समय अकाट्य तर्कों से पाश्चात्य विद्वानों के पांचवीं शताब्दी ई० के समय के प्रतिकूल प्रथम शताब्दी (ई० पू०) निश्चित किया है। अतः भास अवश्य इसके पूर्व हुए।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रतिज्ञायौगन्धरायण का एक श्लोक उद्धृत

किया है। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री थे और चौथी शताब्दी (ई० पू०) के आरम्भ में हुए। अतः भास इस समय हो चुके थे।

गणपति शास्त्री के अनुसार भास का समय ४०० ई० पू० के पश्चात् का नहीं हो सकता। भास ने बहुत ही सरल भाषा में अपने ग्रन्थों की रचना की। उस समय संस्कृत साधारण बोलचाल की भाषा थी। इन ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के नियमों का अक्षरशः पालन नहीं हुआ है। इसलिए शास्त्री जी के कथनानुसार भास पाणिनि के समकालीन थे और इसी कारण उन्होंने इन व्याकरण के नियमों की विडम्बना की। पाणिनि का समय प्रो० मेकडौनेल के अनुसार ४०० ई० पू० और गोल्डस्टकर के अनुसार ६०० ई० पू० है। अतः निःसंदेह ही भास इस समय के लगभग हुए होंगे।

भास की रचनाएँ

एक जनश्रुति के अनुसार भास ने तीस से अधिक ग्रन्थों की रचना की, परन्तु अभी तक खोज में केवल तेरह रूपक ही उपलब्ध हुए हैं। वे महाभारत, रामायण एवं कल्पना के आधार पर लिखे गये हैं।

महाभारत के आधार पर लिखे हुए रूपक निम्नलिखित हैं—

(१) मध्यम व्यायोग

इस ग्रन्थ की रचना हिडम्बा और भीम के विवाह के संस्मरण के आधार पर की गयी है। घटोत्कच अपनी माता हिडम्बा के आज्ञानुसार एक ब्राह्मण को सता रहा है जिसे मार कर वह हिडम्बा के पास ले जाना चाहता है। भीम ब्राह्मण को देखते हैं और उसकी रक्षा करते हैं तथा स्वयं उसके स्थान पर उस राक्षसी के समीप जाते हैं। हिडम्बा अपने पति से मिल कर प्रसन्न होती है और केवल उससे मिलने के लिए ही यह सब षड्यन्त्र रचा है, ऐसा बताती है। घटोत्कच को भी पिता से मिलकर अपूर्व आनन्द होता है।

(२) दूत घटोत्कच

जयद्रथ द्वारा अभिमन्यु का वध होने के पश्चात् हिडिम्बा-पुत्र घटोत्कच जयद्रथ के समीप जाता है और अर्जुन द्वारा उसके भावी नाश की सूचना देता है। उस समय कौरव अपनी विजय पर बहुत प्रसन्न हो रहे हैं।

(३) कर्णभार

कर्ण ने अपना दिव्य कर्णाभूषण परशुराम द्वारा प्राप्त किया था परन्तु परशुराम जी का इस विषय पर यह कहना था कि यह तुम्हारी आवश्यकता पड़ने के समय काम में नहीं आयेगा। अर्जुन जिस समय कर्ण के पास युद्ध के लिए सन्नद्ध होते हैं, शल्य ब्राह्मण के रूप में उस कर्णाभूषण की कर्ण से याचना करते हैं। कर्ण उन्हें दे देता है और अपने लिए भीषण हानि करता है।

(४) ऊरुभंग

यह एक एकांकी उत्सृष्टिकांक है तथा संस्कृत साहित्य में एक मात्र दुःखान्त रूपक है। इसमें कौरव तथा पांडवों का अन्तिम संघर्ष, भीम और दुर्योधन का गदा-युद्ध वर्णित है जिसका अन्त दुर्योधन की ऊरु अर्थात् जंघाओं के भंग में है। दुर्योधन का पुत्र अपने पिता को मृत देखकर बहुत शोक करता है और दुर्योधन की पत्नियां भी करुणामय विलाप करती हैं।

(५) पंचरात्र

यह तीन अंकों का समवकार है। महाभारत की एक घटना उससे कुछ भिन्न रूप में वर्णित है। गुरु द्रोणाचार्य एक युक्ति द्वारा पांडवों को आधा राज्य दिलवाते हैं। दुर्योधन ने गुरु से कहा कि यदि पांडव मुझे पांच दिन के अन्दर मिल जावें तो मैं उन्हें आधा राज्य दे दूंगा। उस समय पांडव विराट के यहां अज्ञातवास कर रहे थे। द्रोण की सहायता से अभिमन्यु का पता चल जाता है और उसका विवाह विराट की पुत्री उत्तरा से करवा दिया जाता है। इस प्रकार पता चलने पर दुर्योधन अपने कथनानुसार आधा राज्य पाण्डवों को दे देता है और प्रतिज्ञा सत्य होती है।

(६) दूतवाक्य

कौरवों की सभा में द्रौपदी के अपमान के कारण खिन्न होकर पांडव योगिराज भगवान् कृष्ण को दूत रूप में सन्धि का प्रस्ताव लेकर कौरवों के समीप भेजते हैं। दुर्योधन द्रौपदी के अपमान से बड़ी प्रसन्नता प्रकट करता है। कृष्ण द्वारा पांडवों

के लिए आधा राज्य मांगे जाने पर दुर्योधन उनकी प्रार्थना को अस्वीकार कर देता है और कृष्ण बिना अपना मनोरथ सिद्ध किये लौट आते हैं।

(७) बालचरित

यह एक सात अंकों का नाटक है। इसमें भागवत, हरिवंश तथा विष्णु पुराण से कुछ परिवर्तित रूप में कृष्ण-जन्म से कंस-वध पर्यन्त कथा वर्णित है। कृष्ण का जन्म होने पर नारद उनका दर्शन करने जाते हैं और वसुदेव आठवीं बार पुत्र के जन्म पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं परन्तु कंस के भय के कारण पुत्र को यमुना पार वृन्दावन में ले जाने का निश्चय करते हैं। मार्ग में दिव्य अस्त्र उनकी रक्षा करते हैं। वसुदेव नन्द की पुत्री को पुत्र के स्थान पर ले आते हैं और कंस को भेंट करते हैं। कंस पत्थर की शिला पर पटक कर उसका काम तमाम करता है।

कृष्ण पूतना, प्रलम्ब, धेनुका तथा कालिया आदि राक्षसों का वध करते हैं और अपने सौजन्य से समस्त वृन्दावनवासियों के स्नेह-भाजन हो जाते हैं। कुछ काल बाद जब कंस को सत्यता का पता लगता है तो वह कृष्ण को बुलवाता है। पहले कृष्ण हाथी से युद्ध करते हैं और कंस के दरबारी मुष्टिका और कनूरा को अपनी मुट्ठियों से पछाड़ देते हैं। इसी समय कंस का वध होता है और कृष्ण अपने नाना उग्रसेन को राज्यारूढ़ करते हैं।

रामायण के आधार पर लिखे हुए रूपक ये हैं—

(१) प्रतिमा नाटक

इसमें रामायण की घटना राम के वनवास से लेकर राज्याभिषेक पर्यन्त वर्णित है। जिस समय भरत अपने मामा के यहां से लौटते हैं तो मार्ग में उनको वह स्थान मिलता है जहां उनके दिवंगत पूर्वजों की प्रतिमाएँ संगृहीत की गयी थीं। उनमें अपने पिता दशरथ की प्रतिमा देख भरत चकित हो जाते हैं और उनको महा भयावह घटना की सूचना मिलती है। जिस समय राम रावण से युद्ध करने को तैयार होते हैं, भरत सेना द्वारा उनकी सहायता करते हैं। यह घटना

रामायण से भिन्न है। सीता के स्वयंवर में असफल होने पर रावण परशुराम को राम के विरुद्ध उकसाता है और सूर्पणखा को मंथरा के रूप में भेजता है। रावण-राम का विरोध आदि से अन्त तक दर्शाया गया है।

(२) अभिषेक नाटक

इस नाटक में छः अंक हैं जिनमें वालि-वध से राम-राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। हनुमान जी को लंका पहुंच कर भगवती सीता को सान्त्वना देना तथा वहां उस नगरी का नष्ट करना एवं जलाना, रावण का सीता के सम्मुख राम-लक्ष्मण के कटे हुए मस्तक दिखा कर छल करना इस नाटक में समाविष्ट है।

कल्पना के आधार पर लिखे हुए रूपक ये हैं—

(१) अविमारक

इसमें महाराज कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी और अविमारक नामक राजकुमार की प्रेमकथा वर्णित है। अविमारक एक हाथी से कुरंगी की रक्षा करता है और उस पर अनुरक्त हो जाता है। वह शापवश अपने पिता महाराज सौवीर के साथ एक निम्न जाति के पुरुष के समान रहता है। वह कुरंगी के समीप पहुंचने के लिए चोर की भांति उसके घर में जाता है और अकस्मात् पकड़ जाता है। उसे मृत्यु-दंड मिलता है। इसी समय नारद मुनि का आगमन होता है और वह अविमारक को सौवीर का पुत्र घोषित करते हैं। इस सत्य के प्रकट होने के उपरान्त ही दोनों का विवाह हो जाता है।

(२) दरिद्रचारुदत्त

इसमें ब्राह्मण चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना की प्रेमकथा वर्णित है। एक गरीब ब्राह्मण वसन्तसेना पर अनुरक्त है और राजा का साला शकार भी इस प्रेम में प्रतिद्वन्द्वी है। वसन्तसेना अपने आभूषण चारुदत्त के पास रख देती है जिनको कि शार्वलिक चारुदत्त के घर में सेंध लगा कर चुरा ले जाता है और अपनी

प्रेमिका मदनिका को वसन्तसेना की सेवा से मुक्त करता है। इसके उपरान्त दोनों का परिणय हो जाता है। इसी के आधार पर शूद्रक ने मृच्छकटिक नामक प्रकरण की रचना की है।

(३) प्रतिज्ञायौगन्धरायण

महाराज उदयन हाथी का शिकार करते हुए महासेन के राज्य में पहुंचते हैं। मृगया में कुछ त्रुटि करने से महासेन द्वारा कैद कर लिये जाते हैं। कारागार में महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता को उदयन से वीणा सीखने के हेतु भेजते हैं। इसी शिक्षा के मध्य में दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं और छिप कर अपनी राजधानी को भाग जाते हैं।

(४) स्वप्नवासवदत्त

स्वप्नवासवदत्त प्रतिज्ञायौगन्धरायण की कथा का उत्तरार्द्ध है। यौगन्धरायण वासवदत्ता को राजा से वियुक्त कर पद्मावती के सम्मुख छोड़ देते हैं और वह जल गयी ऐसा घोषित करते हैं। पद्मावती और राजा का विवाह राज्य की समृद्धि के लिए ज्योतिषीगणों ने आवश्यक बताया था। अपनी प्रिय वासवदत्ता के जलने का समाचार सुन उदयन पद्मावती से विवाह कर लेते हैं। एक बार शिरोवेदना से पीड़ित पद्मावती के समीप वासवदत्ता जाती है और वहां संयोगवश पद्मावती के अनुपस्थित होने पर वासवदत्ता उस स्थान पर विद्यमान उदयन का सिर दबाने लगती है। उस समय राजा को वासवदत्ता का सा भान होता है परन्तु यह घटना स्वप्न की बता दी जाती है। इसी घटना के आधार पर इस नाटक का नामकरण हुआ है। कुछ काल उपरान्त यौगन्धरायण का आगमन होता है और सत्यता प्रकट होती है।

भास की नाटककला और शैली

महाकवि भास अपनी मौलिकता एवं नाटकरचना-कौशल के लिए विख्यात हैं। यद्यपि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के नियमों का उन्होंने अक्षरशः पालन नहीं

किया है तथापि उन्होंने अपनी अद्वितीय कल्पना-शक्ति से उन्हें अपूर्व रोचक और मनोरम बनाने में कुशल प्रतिभा दिखायी है। भास की अनुपम शैली यह है कि वह कहीं-कहीं परोक्ष घटनाओं तथा अनुपस्थित पात्रों को बिना रंगमंच पर उपस्थित किये ही दर्शकों की उनमें पूर्ण रुचि उत्पन्न कर देते हैं। प्रतिज्ञायोगंधरायण में वासवदत्ता और उदयन रंगमंच पर अनुपस्थित रहते हुए भी निरंतर दर्शकों के मन में उपस्थित से रहते हैं और कौतूहल पैदा करते रहते हैं। किसी-किसी स्थान पर उन्होंने घटनाओं की मनोहारिणी शृंखला उपस्थित कर दी है। उदयन जैसे राजा को कारागार में भेजना, ब्राह्मण चारुदत्त व वेश्या वसन्तसेना का प्रेम दिखाना, पिता पुत्रों का युद्ध दिखाना उनकी लेखनी के अद्वितीय चमत्कार हैं। पद्य को पादों तथा उपपादों में विभक्त कर कई पात्रों से कहलाना उनकी शैली का सरल रूप है। वह प्रायः मुद्रालंकार द्वारा नान्दी में ही रूपक के पात्रों का उल्लेख कर देते हैं।

उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का उन्होंने प्रयोग किया है। रस और अवसर के अनुरूप शैली में परिवर्तन भी किया है। अतः प्रकृति के चित्रण करने में उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली है। महाकवि कालिदास पर भी उनका प्रभाव पड़ा है। प्रतिमा नाटक में सीता का वल्कल वस्त्रों का धारण करना और अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला का वल्कल वस्त्रधारी निरूपित करना दोनों ग्रन्थों की समान घटनाएँ हैं। इसी प्रकार प्रतिमा नाटक और अभिज्ञान शाकुन्तल में सीता-वियोग और शकुन्तला-वियोग में साम्य दिखाई पड़ता है।

भास ने प्रकृति का भी अनुपम वर्णन किया है। उन्होंने तपोवन तथा प्रकृति की रमणीय अवस्था का बड़ा ही रोचक चित्र खींचा है। तपोवन का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

"विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसंदिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः॥"

—स्वप्न० १।१२

तपोवन के कारण ही मृग निश्चिन्त और निर्भीक होकर अपने-अपने निवास-स्थान में आये हुए भ्रमण कर रहे हैं। वृक्ष और पौधे पुष्प और फलों से परिपूर्ण हैं और कपिला गौवें भी अधिक संख्या में घूम रही हैं। समीपवर्ती स्थान में कहीं खेती की सी भूमि दृष्टिगोचर नहीं होती और यज्ञ का धुआं भी विस्तृत हो रहा है, इसलिये यह स्थान निःसन्देह ही तपोवन है।—

भास ने मानवीय मनोभावों और मानसिक स्थिति का भी बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। वासवदत्ता के स्वर्गवासी होने की सूचना मिलने पर कंचुकी राजा को इस प्रकार सान्त्वना देता है—

"कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ते।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च॥"

—स्वप्न० ६।१०

अकस्मात् मृत्यु के आ जाने पर कौन किसकी रक्षा कर सकता है? रस्सी के टूट जाने पर घड़े को कौन धारण कर सकता है? मनुष्य वृक्षों के समान ही है जो समय-समय पर काटे जाते हैं और उत्पन्न हो जाते हैं। भास का सान्त्वना देने का यह ढंग निश्चय ही अत्यन्त निराला है।

महाकवि भास संस्कृत साहित्य के प्रथम उपलब्ध नाटककार हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा का बड़े ही सुन्दर ढंग से दिग्दर्शन कराया है। महाकवि कालिदास ने उनका बड़े ही आदरपूर्वक कविकुलगुरु के रूप में उल्लेख किया है जो सर्वथा उनके अनुरूप ही प्रतीत होता है।

७. शूद्रक

(द्वितीय शताब्दी या तृतीय शताब्दी ई० पू०)

प्रसिद्ध प्रकरण मृच्छकटिक के रचयिता महाकवि शूद्रक थे जिनके जीवन के विषय में बहुत ही अल्प सामग्री उपलब्ध है। अनेक विदेशी विद्वान् उन्हें कल्पित व्यक्ति ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक अनुसंधान की महती आवश्यकता है। इस विषय में बिना पर्याप्त अनुसंधान के कुछ निर्णय करना संभव प्रतीत नहीं होता। कादम्बरी, हर्षचरित, वेतालपंचविंशतिका, स्कन्द पुराण आदि अनेक ग्रन्थों में शूद्रक का उल्लेख है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में शूद्रक के निधन का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

"ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥" मृच्छ० १।४

भगवान शिव के अनुग्रह से शूद्रक ऋग्वेद, गणित, वाणिज्य और हाथियों को वश में करने की विशेष शिक्षा प्राप्त करके, अज्ञान अंधकार के नाश होने पर ज्ञानचक्षु प्राप्त कर समारोहपूर्वक अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करने के उपरान्त अपने पुत्र को राजा के रूप में देखकर अर्थात् राज्यारूढ़ कर १०० वर्ष और दस दिन की आयु को प्राप्त कर अग्नि में प्रविष्ट हो गये।

इस प्रकार इसमें शूद्रक की मृत्यु का स्पष्ट उल्लेख है जिस कारण कीथ का मत है कि कोई भी मनुष्य अपनी मृत्यु को पहले से नहीं जान सकता। इस श्लोक के ग्रन्थ में समाविष्ट होने के कारण यह ग्रन्थ अन्य किसी कवि की रचना हो सकता

है और शूद्रक केवल एक काल्पनिक व्यक्ति मात्र ही रह जाते हैं। यह श्लोक प्रक्षिप्त हो सकता है। केवल एक श्लोक के आधार पर रचयिता के अस्तित्व को ही अस्वीकार करना उचित नहीं। एक जनश्रुति के अनुसार रामिल्ल और सौमिल्ल ने शूद्रक कथा नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें कि शिव की वंदना और स्तुति है। इस प्रकार भी शूद्रक एक काल्पनिक व्यक्ति ही रहते हैं। सम्भवतः कविपुत्र या सौमिल्ल ने, जिनका कि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में उल्लेख किया है, इसकी रचना की हो। वामन ने (८वीं शताब्दी ई०) मृच्छकटिक को शूद्रक की ही रचना स्वीकार किया है।

रचना-काल

कालिदास के रूपकों पर मृच्छकटिक का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। जितने प्रकार की प्राकृत इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हुई है उतनी कालिदास ने नहीं की है। शैली भी अपेक्षाकृत सरल है। अतः इसकी रचना कालिदास के पूर्व की प्रतीत होती है। अब प्रश्न उठता है कि कालिदास ने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया। उस समय के कवि राजनीतिक परिस्थिति के अशान्तिमय होने के कारण किसी पूर्व ग्रन्थ का परिवर्द्धन किया करते थे। संभवतः कालिदास शूद्रक को उसका रचयिता न मानते हों और उनकी दृष्टि में रामिल्ल, सौमिल्ल या कविपुत्र ही इस प्रकरण के कर्ता हों जिनका कि उन्होंने अपनी प्रथम रचना मालविकाग्निमित्र के आरम्भ में ही उल्लेख कर दिया है।

मृच्छकटिक में राष्ट्रिय शब्द का प्रयोग एक पुलिस के अधिकारी के रूप में हुआ है जो कि उसके शाब्दिक अर्थ के अधिक उपयुक्त है। राष्ट्र का रक्षक राष्ट्रिय हुआ जिसका पुलिस के अधिकारी के लिए प्रयुक्त होना उचित प्रतीत होता है, जबकि कालिदास ने इस शब्द को रूढ़ि करके राजा के साले के स्थान पर प्रयुक्त किया है। शब्द का रूढ़ होना बाद की घटना होती है। अतः शूद्रक कालिदास के पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। मृच्छकटिक में जो आठ प्रकार की प्राकृत प्रयुक्त हुई है वह व्याकरण के नियमों के सर्वथा अनुकूल नहीं है और विकास की पूर्व अवस्था ही प्रतीत होती है। इस प्रकार शूद्रक कालिदास के पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं।

मृच्छकटिक भास के चारुदत्त का परिवर्द्धित रूप है। अतः उसकी रचना भास के पश्चात् हुई है। भास का समय ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व या इससे पहले का है। इसलिए मृच्छकटिक की रचना भास और कालिदास के काल के बीच की प्रतीत होती है। प्रोफेसर कोनो का मत है कि यह ग्रन्थ तीसरी शताब्दी ई० की रचना है। इस ग्रन्थ में वर्णन है कि आर्यक पालक को मार स्वयं राजा बन जाता है। राजा के मारने की घटना का प्रकरण में समाविष्ट करना भी किसी तत्कालीन राजनीतिक क्रान्ति का द्योतक है। ईश्वरसेन या उसके पिता शिवदत्त ने अन्ध्र बंश का नाश करने पर २४८-४९ के लगभग चेदि संवत् चलाया। संभवतः किसी कवि ने इस घटना को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ की रचना की हो, किन्तु कालिदास के ग्रन्थों पर प्रभाव होने से यह मत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता और केवल कोरी कल्पना मात्र जान पड़ता है।

मृच्छकटिक का कथानक

यह ग्रंथ दस अंकों का प्रकरण है जिसमें दरिद्र ब्राह्मण चारुदत्त और वेश्या वसन्तसेना की प्रणयकथा वर्णित है। चारुदत्त और राजा का साला शकार दोनों ही वसन्तसेना पर अनुरक्त हैं। एक दिन शकार वसन्तसेना का पीछा करता है और रात होने के कारण युक्ति से वसन्तसेना चारुदत्त के घर में प्रविष्ट हो जाती है तथा अपनी बहुमूल्य रत्नावली उसके समीप रख देती है। वसन्तसेना की दासी मदनिका शार्वलिक पर मुग्ध है जो अपनी प्रेमिका को मुक्त कराने के हेतु चारुदत्त के घर में सेंध लगा कर वसंतसेना के आभूषण चुरा लेता है और उनको वसन्तसेना को समर्पित कर मदनिका को उसकी सेवा से मुक्त कर लेता है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता उन आभूषणों के स्थान पर अपने रत्न वसन्तसेना को दे देती है। इसी अवसर पर चारुदत्त का पुत्र रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी लिये हुए वसन्तसेना के घर जाता है और वसन्तसेना अपने रत्नों को उसकी मिट्टी की गाड़ी में भर देती है और उससे सोने की गाड़ी खरीदने का आदेश देती है। मृच्छकटिक अर्थात् मिट्टी की गाड़ी, इस प्रकरण का नामकरण भी इसी घटना के आधार पर हुआ है।

दूसरे दिन चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में जाता है ओर वसन्तसेना भी उसके समीप जाने को उद्यत होती है किन्तु भ्रमवश चारुदत्त की गाड़ी के समीप ही खड़ी हुई शकार की गाड़ी में बैठ जाती है। इसी अवसर पर कुछ ज्योतिषी भविष्य-वाणी करते हैं कि तत्कालीन राजा पालक के पश्चात् गोपाल का पुत्र आर्यक राज्या-रूढ़ होगा। राजा इस घटना पर विश्वास कर आर्यक को बन्दीगृह का दण्ड देता है। आर्यक अधिकारियों से बचकर चारुदत्त की गाड़ी में बैठ जाता है। लोहे की बेड़ियों की ध्वनि को सारथी आभूषणों की झनकार समझ कर गाड़ी हांक देता है। आर्यक चारुदत्त के समीप पहुंचता है और उससे मित्रता कर कहीं छिप जाता है। वसन्तसेना को चारुदत्त के स्थान पर शकार मिलता है जो उससे प्रणय का प्रस्ताव करता है और जिसे वसन्तसेना ठुकरा देती है। शकार क्रुद्ध होकर उसका गला घोंट देता है और संवाहक नामक एक बौद्ध भिक्षु उसका उपचार कर पुनः जीवित करता है।

शकार न्यायालय में उपस्थित होता है और चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का मिथ्या अभियोग लगाता है जिस कारण उसे प्राणदण्ड मिलता है। इस अवसर पर चारुदत्त का मित्र आर्यक पालक को मार स्वतः राजा बन जाता है। वह चारु-दत्त के स्थान पर मिथ्या अभियोग लगाने के कारण न्याय के अनुसार शकार को मृत्यु-दण्ड देता है। चारुदत्त क्षमा कर देते हैं और अन्त में वसन्तसेना और चारुदत्त दोनों का विवाह हो जाता है।

मृच्छकटिक में सामाजिक चित्रण

मृच्छकटिक अपने ढंग का एक अनूठा प्रकरण है जिसमें कवि ने प्रेम के कथा-नक को अपनी रचना-कुशलता से राजनीतिक घटनाओं के साथ संबद्ध किया है। इसके अध्ययन से रोचकता के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक दशा पर भी पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों—चोर, धूर्त, वेश्या, राज्य के अधिकारी आदि—का इसमें पर्याप्त विश्लेषण किया गया है।

यद्यपि इस ग्रन्थ के अध्ययन से तत्कालीन राज्य के स्वरूप का पता नहीं चलता कि वह आधुनिक राजतंत्र था या प्रजातंत्र, तब भी विदित होता है कि उस समय

राजा प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल प्रतिनिधिरूप मंत्रियों की अनुमति से अनेक प्रकार के गुप्तचर विभाग के अधिकारीगण, दूत एवं अनेकों सेवकों की सहायता से राज्य-कार्य सम्पन्न करते थे। इस दशा का निरूपण करता हुआ न्यायालय में चारुदत्त न्यायाधीश के सम्मुख कहता है—

"चिन्तासक्तनिमग्नमंत्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयं।
नानावाशककंकपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥" मृच्छ० ९।१४

यह राजमंडल समुद्र के समान भयंकर हिंसक जन्तुओं से घिरा हुआ प्रतीत होता है जहां पर निरन्तर राज्य की अवस्थाओं पर विचार करते हुए चिन्तित मंत्रिगण जल के समान हैं और इधर-उधर से आनेवाले दूत लहरों से लाये हुए शंखों के समान हैं। चारों ओर स्थित गुप्तचर विभाग के अधिकारी मगर एवं नाकों के समान विद्यमान हैं। दोनों ही स्थानों पर अनेकों नाग और अश्व हिंसक हैं। राज्य के अनेक पदाधिकारी हिंसक जन्तुओं के समान प्रजा को भय दिखाते हैं। कायस्थ लोग सर्प के समान हैं। इस प्रकार यह राज्यमंडल हिंसक जन्तुओं के समान भयानक शक्तियों से घिरा हुआ है। इससे विदित होता है कि उस समय राजा लोग मंत्रियों की सलाह से कार्य किया करते थे। राज्य-प्रणाली कुछ गूढ़ हो चली थी। प्रजा राजदंड से भयभीत रहती थी।

उस समय मृत्यु-दंड की प्रथा प्रचलित थी और न्याय सर्वथा दोष के अनुकूल एवं पक्षपात रहित ही हुआ करता था। यदि अभियोग चलानेवाला चाहे तो अपने प्रतिपक्षी को मुक्त भी कर सकता था। यद्यपि शकार को मृत्युदंड हो गया था, किन्तु चारुदत्त ने उसे क्षमा कर दिया। न्याय की व्यवस्था का इससे पता चलता है कि जिस समय चारुदत्त न्यायालय में उपस्थित हुआ, न्यायाधीश उसका बहुत आदर करते थे। परन्तु दोष सिद्ध होने पर उस जैसे ब्राह्मण को भी मृत्यु-दंड देने में तनिक भी न सकुचाये।

चारुदत्त ब्राह्मण था और उसके द्वारा न्यायालय में दिये गये वक्तव्य से पता

चलता है कि ब्राह्मण को उस समय दंड देना अनुचित समझा जाता था। जिस समय चारुदत्त पर अभियोग लगाया गया, वह क्रुद्ध होकर बोला—

"विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दात-यमद्य।
अथ रिपुवचनाद् वा ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः॥" मृच्छ० ९।४३

हे न्यायाधीश! यदि विष, जल, तुला और अग्नि की साक्षी से मेरा न्याय किया गया है तो आज ही मेरे शरीर पर आरा चलाना चाहिए और यदि शत्रु के वचनों के वशीभूत होकर आप मुझ ब्राह्मण को वध-दंड देते हैं तो आप अपने सकल पुत्र पौत्रों सहित नरक में जायेंगे।

इस उक्ति से विदित होता है कि उस समय पौराणिक विचारों का प्राबल्य था और अग्नि, जल, तुला की साक्षी से न्याय किया जाता था। यदि किसी ब्राह्मण का अन्याय के कारण अनिष्ट हो जाता तो उससे भविष्य में किसी भयंकर विपत्ति की संभावना की आशंका रहती थी।

दंड देने का उस समय कैसा विधान था और दोषी को किस प्रकार का दंड दिया जाता था, इसका भी ग्रन्थ में बड़ा ही स्पष्ट निरूपण किया गया है। शकार के दोषी सिद्ध होने पर उसके प्रति क्या दंड होना चाहिए, ऐसा चारुदत्त से पूछता हुआ शार्वलिक कहता है—

"आकर्षन्तु सुबद्ध्वैनं श्वभिः संखाद्यतामथ।
शूले वा तिष्ठतामेष पाट्यतां क्रकचेन वा॥" मृच्छ० १०।५३

हे चारुदत्त! मुझे बताओ कि इस दुष्ट के साथ क्या करना चाहिए। क्या यह बांध कर घसीटा जाये या कुत्तों का भक्ष्य बनाया जाये या शूली पर चढ़ाया जाये अथवा इसके शरीर पर आरा लगाया जाये। इस श्लोक से प्रकट होता है कि उस समय अपराधियों को बहुत कड़ा दण्ड दिया जाता था। उस समय देन-लेन की प्रथा भी प्रचलित थी और उधार लेने पर उसको वसूल करने के लिए बड़ी कठोरता

की जाती थी। दूसरे अंक में संवाहक और माथुर एक दूसरे से अपने उधार लिये हुए धन के विषय में बातचीत करते हैं। माथुर संवाहक से उधार लिया हुआ धन वापस मांगता है जिसे संवाहक देने में असमर्थ है। माथुर इस हेतु उसको अपने माता-पिता और अपने आप सबको बेचने तक की अनुमति देता है। इस घटना से जहां एक हास्य का पुट मिलता है वहीं पर उधार लिये हुए धन को लौटाने के लिए असह्य कठोरता का भी परिचय मिलता है।

व्यापार उस समय समुन्नत दशा में विद्यमान था और समुद्रयात्रा भी प्रचलित थी जैसा कि चौथे अंक में मैत्रेय की चेटी के प्रति उक्ति है। वह चेटी से पूछता है कि क्या तुम्हारे यानपत्र या जहाज समुद्र में चलते हैं और चेटी नकारात्मक उत्तर देती है। इससे विदित होता है कि साधारण श्रेणी के व्यक्तियों को भी अपने जहाज चलाने और समुद्र द्वारा व्यापार करने की सुविधा प्राप्त थी।

बौद्ध धर्म का पतन आरम्भ हो गया था और जन साधारण की दृष्टि में यह धर्म बहुत अपमान की दृष्टि से देखा जाने लगा था। मार्ग में अकस्मात् बौद्ध भिक्षु का केवल आ जाना भी एक अपशकुन समझा जाने लगा था। उच्च कुलीन लोग वह मार्ग त्याग देते जहां से बौद्ध भिक्षु जाता था। सातवें अंक के अन्त में चारुदत्त और आर्यक बौद्ध भिक्षु को देखते हैं और उसको अपने किसी अनिष्ट की संभावना समझ कर मार्ग दूसरी ओर कर देते हैं।

समाज में कुछ लोगों का चरित्र दूषित भी हो गया था। वसन्तसेना एक गणिका महिला थी जो कि समाज के लिए कलंक समझी जा सकती है। यह जीवन-वृत्ति, यद्यपि उस समय अपनायी जाती थी, लोगों की दृष्टि में घृणित अवश्य हो गयी थी। स्त्रियों के लिए यह वृत्ति अपनाना सदा से ही महानिष्टकारी रहा है। इसके विषय में अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। चौथे अंक में शार्वलिक और वसन्तसेना का वार्तालाप होता है जिसमें वह तत्कालीन स्त्रियों के दोषों का निरूपण करता है और वेश्या को श्मशान के पुष्प के समान त्याज्य बताता है। वह कहता है—

"एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो
विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।

तस्मान्नरेण   कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना   इव वर्जनीयाः"॥ मृच्छ० ४।१४

ये वेश्याएँ धन के कारण ही हंसती और रोती हैं। पुरुष को प्रत्येक प्रकार से अपना विश्वास दिलाती हैं, परन्तु स्वयं किसी का भी विश्वास नहीं करतीं। अतः सज्जन और कुलीन व्यक्ति को श्मशान में उत्पन्न पुष्पों के समान वेश्या का त्याग कर देना चाहिए। इस उक्ति से पता लगता है कि स्त्रियों की दशा उस समय कुछ-कुछ अवनति की ओर अवश्य चल पड़ी थी और वेश्या-वृत्ति के प्रति लोगों को घृणा उत्पन्न हो गयी थी।

प्राचीन काल में देश अवश्य समृद्धिशाली था परन्तु उस समय दरिद्र लोगों को बहुत कष्ट होता था और दरिद्रता एक भीषण अभिशाप समझी जाती थी। इस ग्रन्थ में कुछ ऐसी उक्तियां भी हैं जिनसे प्रतीत होता है कि दरिद्रता में लोग क्या-क्या कुकर्म कर सकते हैं तथा उनका समाज में किस प्रकार का निरादर होता है। प्रथम अंक में चारुदत्त दरिद्रता से उत्पन्न दोषों का इस प्रकार मालालंकार द्वारा वर्णन करते हैं—

"दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः   परिभूयते   परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्"॥
—मृच्छ० १।१४

दरिद्रता से पुरुष लज्जा को प्राप्त होता है। लज्जित व्यक्ति अपने अभिमान को त्याग देता है, निरभिमान व्यक्ति तिरस्कृत होता है, तिरस्कार से आत्मपतन को प्राप्त होता है, आत्मपतित व्यक्ति शोक को, शोकाकुल व्यक्ति बुद्धि को त्याग देता है और निर्बुद्धि पुरुष नाश को प्राप्त होता है। इस प्रकार निर्धनता या गरीबी नाना प्रकार के कष्टों का कारण होती है। आगे चल कर चारुदत्त निर्धन व्यक्ति की समाज में क्या दुर्दशा होती है उसका चित्रण करते हुए कहता है—

"दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखी भवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते॥" मृच्छ० १।३६

गरीबी के कारण पुरुष के कुटुम्बी उसके बचनों का आदर नहीं करते। अत्यन्त घनिष्ट मित्र भी विमुख हो जाते हैं और उसकी विपत्तियां सतत बढ़ती ही रहती हैं। उसके गर्व का ह्रास होता है और कान्ति मलिन पड़ जाती है। जो कोई दूसरों के द्वारा किया हुआ बुरा कर्म होता है उसी दरिद्र के द्वारा किया हुआ समझा जाता है। इस प्रकार कवि ने दरिद्रता का बड़ा ही रोचक एवं सजीव वर्णन किया है जो आज भी प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है।

मृच्छकटिक में चरित्र-चित्रण

यह प्रकरण शुद्ध चरित्र-चित्रण-प्रधान है। इसमें किसी विशेष रस का निरूपण न करते हुए केवल घटनाओं को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। दरिद्र चारुदत्त इस प्रकरण का नायक है तथा वसन्तसेना नायिका के पद पर आसीन होती है जो कि एक गणिका है। चारुदत्त जैसे लोक में लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्मण और वसन्तसेना के समान दर-दर भटकनेवाली गणिका में प्रेम दिखाकर कवि ने स्वाभाविकता एवं रोचकता का मनोरम संचार किया है। इसमें बहुत अधिक पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है जिनमें से कुछ प्रमुख पात्रों का चित्र नीचे निरूपित किया जाता है।

चारुदत्त

चारुदत्त एक आदर्श कर्तव्य-परायण प्रेमी, आत्म-विश्वासी, दयालु, धर्मप्रिय सम्माननीय व्यक्ति है। अत्यन्त दरिद्र होने पर भी वह दान देने में अतिशय उदार है। अपने महान् द्वेषी एवं मिथ्या अभियोग लगानेवाले शकार को भी न्यायालय में प्राणदण्ड मिलने पर अपनी अतिशय उदारता के कारण क्षमा कर मुक्त कर

देता है। मार्ग में अकस्मात् दिखलाई पड़ने पर विट की उसके विपय में उक्ति उसके दिव्य चरित्र को हमारे सम्मुख बड़े स्पष्ट रूप में उपस्थित कर देती है जो इस प्रकार है—

"दीनानां कल्पवृक्षः, स्वगुणफलनतः, सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो,
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये"॥
—मृच्छ० १।४८

आर्य चारुदत्त अपने दिव्य गुणों के कारण स्वाभाविक रूप से दीन दुखियों को कल्प-वृक्ष के समान मनोवांछित फल देनेवाला महा परोपकारी व्यक्ति है। वह सज्जनों का कुटुम्बी तथा परम विद्वान् शिक्षित पुरुषों के लिए दर्पण के समान है। किसी दोप के कारण भी अपने चरित्र में कलंक नहीं आने देता। शील रूपी समुद्र के वह तट के समान है अर्थात् शीलता में वह समस्त समाज में अग्रगण्य है। सत्कार्यो में रत है और अवगुणों की ओर किसी प्रकार भी प्रवृत्त न होनेवाले तथा सज्जनों के समस्त उदार गुणों से युक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने दिव्य गुणों के कारण वह एकाकी ही प्रशंसनीय जीवन व्यतीत करता है तथा अन्य सब लोग तो मानो केवल श्वास मात्र ही लेते हैं। कवि ने श्लोक में चारुदत्त के चरित्र का जो चित्रण किया है उससे उस समय के ब्राह्मणों की दशा और लोगों की दान संबंधी मनो-वृत्ति का परिचय मिलता है।

चारुदत्त एक पराक्रमी व्यक्ति है और इस नाटक की सभी घटनाएँ उस पर केन्द्रित हैं।

इतना ही नहीं कि अधिकरणिक या न्यायाधीश की चारुदत्त के विषय में केवल उच्च भावना मात्र ही थी वह उसके दोप लगानेवाले को भी महापातकी समझता था, जैसा कि उसकी निम्न उक्ति से विदित होता है—

"वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि न ते जिह्वा निपतिता,
मध्याह्ने वीक्षसेऽर्कम् न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता।

दीप्ताग्नौ पाणिमन्तः क्षिपसि स च ते दग्धो भवति नो,
चरित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि न ते देहं हरति भूः"॥ मृच्छ० ९।२१

आर्य चारुदत्त पर मिथ्या अभियोग लगानेवाले हे शकार! तुम्हारा यह कार्य ऐसा है जो निकृष्ट जाति में उत्पन्न पुरुष द्वारा वेदपाठ के समान पापमय है। तब भी तुम्हारी जिह्वा मुख से पृथक् नहीं हुई। मध्याह्न में अत्यन्त देदीप्यमान सूर्य पर टकटकी लगा कर देखने के समान यह कार्य करने पर भी तुम्हारी आंखों की ज्योति अन्धत्व को प्राप्त नहीं हुई। प्रज्वलित अग्नि पर हाथ रखने के समान यह कुकर्म करने पर भी तुम्हारी खाल नहीं झुलसायी। तुम चारुदत्त के उज्ज्वल चरित्र को कलंकित कर रहे हो। तब भी तुम्हारे शरीर को पृथ्वी नहीं हर लेती। कहने का तात्पर्य यह है कि चारुदत्त के चरित्र पर किसी प्रकार दोष लगाना न्यायालय तक में महानिष्टकारी समझा गया था।

चारुदत्त एक अत्यन्त दरिद्र व्यक्ति था और वह अपनी निर्धनता के कारण बहुत ही दुखी रहता था। प्रथम अंक में उसने निर्धनता से उत्पन्न होनेवाले दोषों का यथावत् निरूपण किया है। महान् भीषण परिस्थिति में भी वह दान से पराङमुख न होता था। जहां यह घटना महानता की परिचायक है वहाँ अपने ऊपर पड़ी हुई विपत्ति को साहसपूर्वक सहन न करते हुए पुनः-पुनः व्याकुल हो उठना किसी आदर्श पुरुष के योग्य नहीं कहा जा सकता। कतिपय आलोचकों ने शूद्रक द्वारा नायक के चरित्र-चित्रण में इसको एक महती न्यूनता बताया है। यदि वह दरिद्रता से इस प्रकार व्याकुल न हो कर उसका साहस-पूर्वक सामना करता तो वह अवश्य एक आदर्श चरित्रवान् नायक समझा जा सकता था।

जबकि वह अपने मित्रों से अपनी दरिद्रता को छिपाने में किंचिन्मात्र भी नहीं झिझकता, अपने शत्रुओं तथा अन्य लोगों को ही अपना मिथ्याभिमान दिखलाना चाहता है। चोरों द्वारा उसको अपने घर की सम्पत्ति के हरे जाने का इतना भय नहीं जितना कि उनके द्वारा उसकी दरिद्रता प्रकाशन का भय है। इसी प्रकार वह न्यायालय में यह प्रकट नहीं करता कि वसन्तसेना ने उसे स्वर्णाभूषण दिये थे। समाज में अपनी दरिद्रता को वह किसी प्रकार भी विदित नहीं होने देता।

चारुदत्त एक दरिद्र ब्राह्मण है जिसे अपने जीवन में विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। आरम्भ में वह तो एक लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति बना रहता है परन्तु भाग्यवश उसे भी वसन्तसेना की हत्या के मिथ्यारोप में न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता है। न्यायालय में चारुदत्त अपने चरित्र पर दोष आने के अवसर पर स्वतः ही उसके सम्बन्ध में गर्वोक्ति करता है—

"योऽहं लतां कुसुमितामपि पुष्पहेतो
राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि।
सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे
केशे निगृह्य रुदतीं प्रमदां निहन्मि"॥ मृच्छ० ९।२८

जो मैं चारुदत्त पुष्पों की रक्षा हेतु खिले हुए विकसित मनोरम पुष्पों को तोड़कर उनका संग्रह भी करना उचित नहीं समझता, क्या वही चारुदत्त मैं इस समय भौरों के पंखों के समान मनोहर लम्बे-लम्बे केशों को पकड़ कर रोती हुई महिला की हत्या करूंगा।

यह तर्क तो बहुत सुन्दर उपस्थित किया गया है परन्तु क्या न्याय के सम्मुख यह कथन उचित है ? धर्मप्राण चारुदत्त को प्राणदण्ड देने के अवसर पर अधिकरण या न्यायालय भी व्यथित हो उठा था। आर्य चारुदत्त के चरित्र पर दोष लगाते समय न्यायाधीश या अधिकरणिक का भी मन अत्यन्त संतप्त हो गया और वह कहने लगे—

"कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमात्रशेषं
दत्तानि येन हि धनान्यक्षितानि।
स श्रेयसां कथमिवैकनिधिर्महात्मा
पापं करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम्"॥ मृच्छ० ९।२२

जिस चारुदत्त ने बिना किसी भेदभाव के दान देते समय रत्नों के विशाल समूह समुद्र को केवल जल के एक विशाल केन्द्र के रूप में परिवर्तित कर दिया है अर्थात् दीन-दुखियों को समुद्र के समस्त रत्न दान कर दिये हैं और जिनकी समाप्ति के

कारण समुद्र केवल जलराशि मात्र ही रह गया है, वह कल्याणकारियों का आदर्श स्वरूप एक सच्चरित्र महात्मा धन-प्राप्ति के लिए महिला का वध जैसा भीषण अपराध कैसे करेगा। इस श्लोक से विदित होता है कि चारुदत्त के उज्ज्वल चरित्र के विषय में न्यायालय तक में उच्च भावना थी।

वसन्तसेना

मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त के चरित्र का वर्णन करने के उपरान्त नायिका वसन्तसेना के विषय में भी कुछ उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। वह एक गणिका है और इसी रूप में वह अपने जीवन का निर्वाह करती है। विट, शकार और चारुदत्त तीनों ही उस पर अनुरक्त हैं। वह नगर की प्रत्यक्ष श्री और रूप की लावण्यमय मूर्ति है। विट उसकी आकृति पर मोहित होकर कहता है—

"अपद्मा श्रीरेषा प्रहरणमनंगस्य ललितं
कुलस्त्रीणां शोको मदनवरवृक्षस्य कुसुमम्।
सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी
रतिक्षेत्रे रंगे प्रियपथिकसार्थैरनुगता"॥ मृच्छ० ५।१२

यह गणिका महिला वसन्तसेना भगवती लक्ष्मी की पद्मरहित शोभा है। कामदेव का मनोहर हस्तशस्त्र है। कुलवती महिलाओं के लिए यह शोक रूप है। कामदेव से प्रेम द्वारा उत्पन्न वृक्ष का यह पुष्प है। जिस वसन्तसेना के प्रेमियों का समूह इस प्रकार जाता है जिस प्रकार कि यात्रियों का समूह तीर्थ को जाता है, वही वसन्तसेना इस समय अपने प्रणय-कार्य के हेतु प्रस्थान कर रही है। इस श्लोक से विदित होता है कि जिस सामाजिक दशा का मृच्छकटिक में चित्रण किया गया है उसमें गणिकाओं से सामान्य रूप से प्रेम करने की प्रथा का प्रचलन रहा होगा।

गणिका की वृत्ति कुत्सित अवश्य समझी जाती थी परन्तु उसका वध करना उस काल में भी निन्द्य एवं घोर नरक का साधन माना जाता था। वसन्तसेना के वध का प्रस्ताव सुनकर विट की यह उक्ति है—

"बालां स्त्रियं नगरस्य विभूषणं च
वेश्यामवेशसदृशप्रणयोपचाराम्।
एनामनागसमहं यदि घातयामि
केनोडुपेन परलोकनदीं तरिष्ये" ॥ मृच्छ० ८।२३

इस नगर की शोभा वेश्या स्त्री का जिसकी जीविका ही अन्यों के मनोरंजन पर निर्भर है उस निष्पाप वसन्तसेना का वध करके मेरी जीवन-नौका को कौन भवसागर से पार लगायेगा।

इस उक्ति से प्रतीत होता है कि विट जैसे निम्नकोटि के व्यक्ति भी धर्म से सदा भयभीत रहते थे और अपने किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोक्तव्य समझते थे।

वसन्तसेना सुन्दर, चतुर, दयालु, प्रिय एवं मधुरभाषिणी वनिता है। ग्रंथ में उसको गणिका के रूप में चित्रित किया गया है और इस रूप में भी वह समाज में कितनी प्रतिष्ठित है यह विट की शकार के प्रति निम्न उक्ति से स्पष्ट विदित हो जाता है—

"अन्धस्य दृष्टिरिव पुष्टिरिवातुरस्य,
मूर्खस्य बुद्धिरिव सिद्धिरिवालसस्य।
स्वल्पस्मृतेर्व्यसनिनः परमेव विद्या,
त्वां प्राप्य सा रतिरिवारिजने प्रनष्टा" ॥ मृच्छ० १।४९

हे, मित्र यह गणिका वसन्तसेना अपने दिव्यगुणों के ही कारण अंधों के लिए नेत्रों की ज्योति के समान, रोगी के लिए सुपाच्य आहार के समान, मूर्ख के लिए बुद्धि के समान, आलसी के लिए सफलता के समान, दुर्गुणों व दुर्व्यसनों में फंसे हुए कम स्मृति वाले व्यक्ति के लिए ज्ञान की परम सीमा के समान है। जिस प्रकार शत्रु से प्रेम पराङ्मुख हो जाता है उसी प्रकार वह तुमको ठुकरा कर चली गयी है।

ग्रंथ के अवलोकन से विदित होता है कि वह सौन्दर्य की भी अनुपम प्रतिमा थी, जिस कारण विट, शकार आदि सब उस पर अनुरक्त थे। यद्यपि वह गणिका का नीच कार्य करती थी, फिर भी बहुत लोग उससे प्रेम करते थे और वह समाज में

सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी। चारुदत्त जब कि एक महान् उदार एवं दानी के रूप में चित्रित किया गया है वसन्तसेना भी किसी भांति उससे कम उदार नहीं है। जिस समय चारुदत्त का पुत्र रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी लेकर वसन्तसेना के घर जाता है वह उसको स्वर्ण से भर देती है। यह घटना वसन्तसेना की उदारता का उज्ज्वल प्रमाण प्रस्तुत करती है।

अन्य पात्र

प्रकरण के नायक और नायिका चारुदत्त और वसन्तसेना का चरित्र-चित्रण करने के उपरान्त प्रकरण के कुछ अन्य चरित्रों के विषय में भी किञ्चित् विचार कर लेना चाहिए। स्थावरक और मदनिका एक अनुपम कोटि के दास और दासी हैं जो सचमुच ही बड़े स्वाभाविक हैं। विट एक अद्भुत प्रेमी और हंसोड़ है। वह ललित कलाओं एवं सौन्दर्य से बहुत प्रेम करता है। इसी कारण डा० राइडर का मत है कि वह एक उत्तम कोटि का विदूषक है। दर्दुरक और शार्वलिक भी इस ग्रंथ में अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व रखते हैं। उन दोनों में एक आदर्श मैत्री है और दोनों ही उच्च कुलीन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न चरित्रभ्रष्ट व्यक्ति हैं।

दर्दुरक द्यूतप्रेमी और शार्वलिक चोरी के हेतु घरों में सेंध लगाने में कुशल-हस्त है। दोनों ही अपने कार्यों में प्रवीण हैं जिनकी पूर्ति करने में वे प्रत्येक सम्भव उपाय का प्रयोग करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

चारुदत्त का न्याय करनेवाले न्यायाधीश या अधिकरणिक के चरित्र पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। शकार द्वारा मिथ्या अभियोग लगाने पर वह आरम्भ में तो चारुदत्त के विरुद्ध कुछ सुनना तक अस्वीकार कर देता है। शकार के बहुत कहने पर और राज-भय दिखाने पर ही वह ऐसा करने को उद्यत होता है। इस प्रकार उसको कोई पक्षपाती कह सकता है परन्तु उसके न्याय पर दृष्टि-पात करने से वह सर्वथा धर्मानुकूल आचरणकर्ता एवं न्यायकारी ही प्रमाणित होता है।

शकार भी इस प्रकरण में अपना विशेष महत्त्व रखता है। वह एक विनोद-जनक पात्र है और अपने अभिनय में स्थान-स्थान पर दर्शकों का मनोरंजन करता

है। प्रथम अंक में वह कुछ मूर्खतामय कार्य अवश्य करता है। यह भी वसन्तसेना को अपनी प्रेमिका व जीवनसंगिनी बनाने का प्रबल इच्छुक है। वह अपनी इस मनो-कामना की पूर्ति में सर्वथा असफल ही रहता है जिसके कारण उसके जीवन पर गहरा धक्का लगता है। उद्यान में जब अकस्मात् ही शकार और वसन्तसेना का साक्षात्कार होता है और जब वह गणिका शकार की मनोकामना को ठुकरा देती है तब शकार द्वारा उसका गला घोंट कर एक भीषण पाप किया जाता है। इस प्रकार शकार नाट्यकार द्वारा एक दुष्ट के रूप में चित्रित किया गया है। मिथ्याभियोग लगाना भी ऐसा ही एक भीषण कुकर्म है।

इस प्रकरण की भाषा और शैली बड़ी सरल, स्वाभाविक और प्रवाहयुक्त है, यद्यपि इसके कवि में कालिदास की चारुता व भवभूति की उदारता का अभाव है। वह हृदगत् भावों के चित्रण में सिद्धहस्त है जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

इस ग्रन्थ में सामाजिक व्यवस्था का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया गया है और यही उसकी लोकप्रियता का कारण है। इस प्रकरण का विदेशों पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस शूद्रक-रचित मृच्छकटिक के अंग्रेजी अनुवाद का अमेरिका के प्रसिद्ध नगर न्यूयार्क में सन् १९२४ ई० में अभिनय हुआ और वहां की जनता पर उसका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। तत्कालीन प्रसिद्ध नाटक-कला के आलोचक जौसेफ वुड क्रुच ने इसकी प्रशंसा बड़े ही मनोरम शब्दों में की है जैसा कि हमारे देश के सुयोग्य प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी अन्तिम सर्वोत्कृष्ट कृति भारत की खोज (डिस्कवरी ऑफ इण्डिया) में उद्धृत किया है। उसका भावार्थ इस प्रकार है—

"इस प्रकरण को देखने से हमें नाटककला के शुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है जो कि पूर्व की पश्चिम के प्रति एक अमूल्य देन है। इसके रचयिता के समय के विवाद में न पड़ते हुए भी हमें निर्विवादरूप से स्वीकार करना पड़ता है कि वह एक परम विद्वान् व्यक्ति था जिसने जनता के हृदय का सूक्ष्म गंभीर अध्ययन किया था। इस प्रकार का रूपक एक बहुत ही उच्च राजनीतिक सभ्यता में निर्मित हुआ होगा जिसके समक्ष अंग्रेजी के अमर नाटककार शेक्सपियर के मैकबेथ और

अथैलो जैसे ग्रन्थ भी निम्न ही प्रतीत होते हैं। इससे पता लगता है कि विदेशियों की दृष्टि में भी इस ग्रन्थ का समुचित आदर था। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के नियम के अनुसार प्रत्येक रूपक में कोई शृंगार अथवा वीर रस प्रधान होना चाहिए किन्तु यह ग्रन्थ उस परम्परा का पालन न करते हुए एक घटना-प्रधान रूपक है तब भी इसमें शृंगार और करुण रस का मार्मिक चित्रण हुआ है। वसन्तसेना के प्रति शृंगार और न्यायालय में उपस्थित चारुदत्त करुण रस के मूर्तिमान् स्वरूप हैं।"

जिस समय यह ग्रन्थ रचा गया उस समय प्राकृत भाषाओं का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। इस कारण इस ग्रन्थ में अनेकों प्रकार की प्राकृत पायी जाती है। उसका क्रम इस प्रकार है—

भाषा		जिन पात्रों द्वारा बोली जाती है
शौरसेनी	प्राकृत	वसन्तसेना, मदनिका, कर्णपूरक, धूता, रदनिका
शकारी	,,	शकार
अवन्तिका	,,	वीरक और चन्दनक
प्राच्य	,,	विदूषक
मागधी	,,	स्थावरक, संस्थानक, कुम्भीलक, वर्धमानक, रोहसेन, चाण्डाल, धवकी
संस्कृत शुद्ध		विट, आर्यक, चारुदत्त, शार्वलिक

इस प्रकार यह प्रकरण संस्कृत साहित्य की अनुपम निधि है जो अपने ढंग से अनूठी भी है। महाकवि शूद्रक के विषय में जो कि इसके रचियता माने जाते हैं ऐतिहासिक खोज न होना स्वतंत्र भारत के लिए लज्जा की बात है। हम आशा करते हैं कि हमारे देश के प्रगतिशील विद्वान् इस ओर समुचित ध्यान देंगे।

८. महाकवि कालिदास

(प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व)

महाकवि कालिदास ही संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में ऐसे विख्यात कलाकार हैं जिन्होंने श्रव्य और दृश्य दोनों ही प्रकार के काव्यों को रचकर अपनी अनुपम प्रतिभा प्रदर्शित की है। कालिदास की इस प्रतिभा-सम्पन्न शैली का अनुभव करते हुए आधुनिक विद्वान् हैरान हैं परन्तु उनके समय की संदिग्धता के कारण उदासीन हैं। हमारे लिए यह परम दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे देश के ऐसे प्राचीन मनीषी साहित्यकारों ने काव्य के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों का निर्माण करने पर भी अपने जीवन के विषय में अधिक प्रकाश नहीं डाला है और न उनके विषय में साक्षात् रूप से जीवन सम्बन्धी कुछ ज्ञान ही प्राप्त हो सका है। जीवन-चरित्र के विषय में तो कहना ही क्या, उनका कालनिर्णय करना भी अधिकांशतः अप्रत्यक्ष प्रमाणों पर ही अवलम्बित है। यही गति महाकवि कालिदास की भी है जिनका समय निर्णय करने में विद्वानों में बड़ा मतभेद हो गया है और परस्पर निर्णीत कालों में ७००. वर्ष के दीर्घ समय का अन्तर विद्यमान है।

महाकवि का समय

कालिदास ने वर्णन किया है कि वह महाराज विक्रमादित्य के आश्रित राज-कवि थे। इसलिए यदि विक्रमादित्य के समय का निर्धारण हो जाय तो कालिदास का समय भी निश्चित हो सकता है। फर्ग्युसन के कथनानुसार उनका समय ६ठी शताब्दी ई० है। कीथ और मेकडौनेल ने यह समय ५वीं शताब्दी ई० का आरम्भ बताया है जब कि भारतीय विद्वानों ने इस काल को प्रथम शताब्दी ई० पू० निश्चित

किया है। अब आइये हम इन मतों की सत्यासत्यता पर विचार कर महाकवि का समय निर्णय करने का प्रयास करें।

छठी शताब्दी ई० का मत

फर्ग्युसन का मत है कि उज्जयिनी के राजा महाराज हर्ष विक्रमादित्य ने ५४४ ई० में शकों को परास्त कर अपनी विजय के उपलक्ष्य में विक्रम संवत् आरम्भ किया जिसे प्राचीन और चिरस्मरणीय बनाने के उद्देश्य से ५७ ई० पू० से आरम्भ माना। ५०० ई० के लगभग हूणों ने हमारे देश पर आक्रमण किया जिनका कालिदास ने शक, यवन, पह्लव आदि विदेशी जातियों के रूप में उल्लेख किया है। अतः उनका समय ५०० ई० के अनन्तर ही होना चाहिए।

इस मत के विरुद्ध प्रमुख आपत्तियां ये हैं—

(१) महाराज हर्षविक्रमादित्य द्वारा चलाये गये इस विक्रम संवत् का ६०० वर्ष पूर्व से क्यों आरम्भ हुआ माना जाय जब कि मालव संवत् ५२९ तथा विक्रम संवत् ४३० के प्रयोग मिलते हैं? इस प्रकार यह मत पूर्णतः धराशायी हो जाता है।

(२) कालिदास ने रघुवंश में हूणों का उल्लेख विदेशी विजेताओं के रूप में न करके भारत की सीमा के बाहर का किया है जहां कि महाराजा रघु ने उन्हें पराजित किया था। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास से सिद्ध होता है कि प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० पू० में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे।

(३) ४७३ ई० में वत्सभट्ट द्वारा रचित मंदसौर वाली प्रशस्ति में ऋतु-संहार और मेघदूत की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार भी कालि-दास का समय छठी शताब्दी ई० मानना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है।

गुप्तकालीन मत

कीथ तथा मैकडौनेल प्रभृति यूरोपीय विद्वानों का विचार है कि गुप्तवंशीय प्रसिद्ध सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय ने सर्वप्रथम विक्रमादित्य की उपाधि धारण की जिसके पूर्व इस नाम का कोई नरेश ही नहीं हुआ था अतः यही विक्रमादित्य

कालिदास का आश्रयदाता था। साथ ही साथ भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग गुप्तकाल में ही इस महाकवि को अपनी काव्य-कौमुदी के विकास करने का पर्याप्त अवसर भी मिला होगा। कुमारसम्भव की रचना भी कवि ने कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य करके की होगी। शकों की पराजय के उपलक्ष्य में चंद्रगुप्त ने विक्रम संवत् नामक संवत् चलाया और उसे चिरस्मरणीय बनाने के हेतु ५७ ई० पू० से आरम्भ माना। यह संवत् इन विद्वानों की धारणानुसार उक्त तिथि के पूर्व से मालव संवत् के नाम से प्रचलित था। इस मत के विरुद्ध प्रमुख आपत्तियां निम्नलिखित हैं—

(१) चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महापराक्रमी नरेश था। अपने नाम से कोई नवीन संवत् न चलाकर ६०० वर्ष पूर्व से प्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से परिवर्तित करना उसके व्यक्तित्व के प्रतिकूल है। इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि उसके पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्त संवत् प्रचलित किया था। पौत्र के लिए पितामह का संवत् अस्वीकार कर नवीन संवत् चलाना महान धृष्टता होगी। स्कन्दगुप्त ने विक्रम संवत् का उल्लेख न करते हुए गुप्त संवत् का ही प्रयोग किया है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा प्राचीन विक्रम संवत् को अपने नाम से पुनः प्रचलित करने की धारणा सर्वथा निराधार ही प्रतीत होती है।

(२) कुमार-सम्भव की रचना से भी पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि यह ग्रंथ चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य करके लिखा गया होगा। यह धारणा भी सर्वथा भ्रान्तिरहित नहीं कही जा सकती क्योंकि महाकवि ने अपनी कृति में कुमार शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में ही किया है। इसी प्रकार कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि महाराज समुद्रगुप्त की विजय-यात्राओं का विवरण ज्ञात कर रघुवंश में कवि ने रघु की दिग्विजय यात्रा का प्रत्यक्ष वर्णन किया होगा। रघु की यात्रा का यह वर्णन काव्य का एक अनूठा उदाहरण है और बहुत कुछ पुराणों के आधार पर लिखा गया है।

(३) मालविकाग्निमित्र में अश्वमेध की रोचक कथा का वर्णन है। पराक्रमी गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपनी विजय के उपरान्त यह महायज्ञ सम्पन्न किया था। इससे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कालिदास ने सम्राट् के

इस महान सुकार्य का आँखों-देखा विवरण अपने ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। हमें इस धारणा में भी संदेह है। शुङ्गवंश के प्रवर्तक ने भी यह विख्यात यज्ञ सम्पादित किया था। सम्भवतः कालिदास ने यह सामग्री वहीं से उपलब्ध की हो अथवा अपनी कल्पना के आधार पर रची हो।

(४) इस मत के विरुद्ध सबसे उल्लेखनीय प्रमाण यह है कि किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य न था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इसे केवल उपाधिरूप में ही धारण किया था। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उपाधि को प्रचलित करने के लिए इस नाम का कोई लोक प्रसिद्ध नरेश पहले हो चुका हो। रोम का इतिहास अवलोकन करने से भी विदित होता है कि सीजर उपाधिधारी राजाओं के पूर्व इस नाम का दूसरा सम्राट् अवश्य हो चुका था। इस प्रकार सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य उपाधि धारण करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व इस नाम का कोई लोकविश्रुत नरेश अवश्य हुआ होगा। उसी विक्रमादित्य का हमारे महाकवि के आश्रयदाता होने की अधिक सम्भावना है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत

हमारे देश में चिरकाल से यह लोकोक्ति प्रचलित चली आयी है कि उज्जयिनी के वर्चस्वी सम्राट् महाराज विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर अपनी विजय के उपलक्ष्य में ईसा से ५७ वर्ष पूर्व 'मालवगणस्थिति' नामक संवत् आरम्भ किया जो कि बाद में विक्रम संवत् के नाम से विख्यात हुआ। यह संवत् भारत में अब तक प्रचलित है तथा समस्त धार्मिक कार्यों में भी अपनाया जाता है। कथा सरित्सागर में विक्रमादित्य का उल्लेख है जो प्रथम शताब्दी ई० में गुणाढ्य कृत बृहत्कथा के आधार पर लिखी गयी है जो कि अब अप्राप्य है। कालिदास का समय निर्धारण करने के पूर्व उस ग्रंथ के आधार पर लिखी हुई अन्य रचनाओं पर भी पर्याप्त रूप से विचार करना होगा। इन परमार वंशीय विक्रमादित्य के विषय में अनेक लोक-कथाएँ विख्यात हैं। अतः उनके अस्तित्व की ही उपेक्षा करना अनुचित प्रतीत होता है। यह सम्राट् बड़े ही काव्य-मर्मज्ञ थे तथा कवियों और कलाकारों का समुचित सम्मान करते थे। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अनेक

शैव सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इस कारण उनका निवास पाटलिपुत्र-वासी वैष्णव गुप्त नरेशों की अपेक्षा मालवावासी शैव सम्राट् विक्रमादित्य के ही अधिक समीपवर्ती प्रतीत होता है।

इस मत की पुष्टि अन्य अनेकों अन्तरंग प्रमाणों द्वारा भी होती है। विक्रमोर्वशी नामक रचना करने से कवि का अभिप्राय अपने आश्रयदाता के नाम को अमर कर देना ही है। इस त्रोटक में कवि ने इंद्र के पर्यायवाची शब्दों में महेन्द्र शब्द का पुनः-पुनः प्रयोग किया है जो कि संभवतः उसके आश्रयदाता महाराज विक्रमादित्य के पूज्य पिता महेंद्रादित्य की ओर संकेत है। अनुमान है कि यह त्रोटक ग्रंथ वृद्ध नरेश के अवकाश ग्रहण और राजकुमार के राज्यारोहण के अवसर पर अभिनीत किया गया होगा।

प्रयाग के निकट भीटा नामक स्थान पर एक पदक प्राप्त हुआ है जिस पर एक सुन्दर चित्र अंकित है। उसमें एक मुनि हाथ उठा कर राजा को मृग पर प्रहार न करने के लिए रोक रहा है। दो पुरुषों के समीप खड़ी हुई एक बालिका पौधों को सींच रही है। यह पदक ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में रचा गया था। यह चित्र महाकवि की अमर कृति अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अंक में पाये जाने वाले वर्णन से बहुत कुछ मिलता है। दोनों मनुष्य क्रमशः दुष्यन्त और मुनि प्रतीत होते हैं। बालिका शकुन्तला हो सकती है। इस साम्य से हमें महाकवि का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० मानने में संदेह की आशंका नहीं रहती।

इस पदक का विस्तृत वर्णन सन् १९०९-१० ई० के भारतवर्ष के पुरातत्व विभाग संबंधी अनुसंधान के वार्षिक विवरण के पृष्ठ ४०, ४१ पर प्रकाशित हुआ है। उसका तात्पर्य यह है—

"इलाहाबाद के निकट भीटा नामक स्थान पर श्री मार्शल की अध्यक्षता में की गयी खुदाई निस्संदेह ही सन् १९०९-१० ई० में किये गये अनुसंधानों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसके विषय में सन् १९११ की रायल एशियाटिक सोसायटी के वार्षिक विवरण में भी उल्लेख है।........श्री मार्शल को सेठ जयबसुद के घर में एक पकी हुई मिट्टी का बना हुआ पदक प्राप्त हुआ जिसके साथ उसका आरम्भिक विवरण भी दिया गया है। वह पदक हमारा ध्यान भारतवर्ष

के अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक शकुन्तला के एक दृश्य की ओर आकर्षित करता है। उस पदक के मध्य में एक चार घोड़ों से जुता हुआ रथ है और उस पर दो मनुष्य बैठे हैं जिनमें हम सम्भवतः दुष्यन्त और उसके सारथी के दर्शन करते हैं जो कि कण्व के आश्रम में शरणागत एक हिरण को न मारने के लिए एक तपस्वी से आदेश पा रहे हैं। तपस्वी की झोपड़ी भी एक ओर अंकित की गयी है जिसके सम्मुख एक कन्या पौधों को सींच रही है जो नाटक की नायिका शकुन्तला समझी जा सकती है। यह पदक निश्चित रूप से शुंग काल में बना था जो निस्संदेह ही कालिदास के समय के बहुत पूर्व का है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उस कवि ने अपने विख्यात नाटक की कथावस्तु स्वयं निर्मित नहीं की थी। उसका महाभारत के प्रथम पर्व में प्रासंगिक कथा के रूप में उल्लेख है पर साथ-साथ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि उक्त रथ का चित्रण कथा के प्रासंगिक रूप की अपेक्षा नाटकीय रूप से अधिक समता प्रकट करता है और इस प्रकार यह साम्य निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता।"

पदक के उक्त विवरण से विदित होता है कि वह शुंगवंश के काल में रचा गया था जिसका समय ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर प्रथम शताब्दी ई० पू० सिद्ध है। इस प्रकार पदक का भी यही समय हुआ। इस विवरण में यह भी अनुमान लगाया गया है कि कालिदास का समय उससे बहुत बाद का होने के कारण पदक के निर्माता को उसकी कथावस्तु नाटक की मूलकथा महाभारत के शाकुन्तलोपाख्यान से प्राप्त हुई होगी। इस आख्यान के अवलोकन करने से विदित होता है कि पदक और उसका वर्णन बहुत भिन्न है। उस कथा में कोई तपस्वी राजा और सारथी को मृग पर प्रहार न करने के लिए रोकता नहीं है। उसमें यह भी वर्णन नहीं है कि शकुन्तला किसी स्थल पर पौधों को सींचती है। इस प्रकार उक्त पदक के निर्माण की प्रेरणा कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक से ही प्राप्त हुई होगी और महाकवि प्रथम शताब्दी ई० पू० में अवश्य प्रादुर्भूत हुए होंगे।

इस मत के विरुद्ध प्रमुख आपत्तियां निम्नलिखित हैं—

(१) यूरोपीय विद्वानों का कथन है कि गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व जिसने सर्वप्रथम विक्रमादित्य की उपाधि धारण की, विक्रमादित्य नामक कोई

नरेश नहीं हुआ। इतनी प्रबल जनश्रुति की अवहेलना करना उचित प्रतीत नहीं होता, यद्यपि इतिहास परमार वंशीय उज्जैनी के सम्राट् विक्रमादित्य के जीवन पर अधिक प्रकाश नहीं डालता। केवल इतिहास के मूक होने से ही किसी के अस्तित्व को संदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

(२) भीटा में प्राप्त प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप पदक के विषय में भी हमारे पाश्चात्य मित्रों का कथन है कि यह चित्र महाभारत में पायी जानेवाली शकुन्तला की मूल कथा या अन्य किसी कथा के आधार पर होगा। किन्तु जब तक इस विषय में पूर्ण गवेषणा न हो जाय निर्णय पूर्णतः संदेह रहित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अब तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० मानना अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है। महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञानशाकुन्तल नामक तीन रूपक ग्रंथों की क्रम से रचना की जो कि उनकी काव्य-प्रतिभा के अनूठे उदाहरण हैं।

मालविकाग्निमित्र

मालविकाग्निमित्र महाकवि कालिदास की प्रथम रूपक रचना है। इस कृति में कवि अपनी सर्वतोमुखी रूपक प्रतिभा का परिचय न दे सका। ग्रंथ की प्रस्तावना में कवि ने यह तर्क उपस्थित किया है कि न कोई रचना प्राचीन होने से उत्कृष्ट होती है और न नवीन होने से निकृष्ट। इससे विदित होता है कि कालिदास के समय में इस कृति का समुचित आदर न हुआ। यद्यपि कवि की अन्य नाटक-रचना विक्रमोर्वशी एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् की अपेक्षा इसमें कवि की पूर्ण नाटक-कुशलता नहीं प्रकट होती, तब भी यह संस्कृत साहित्य का एक विशेष नाटक ग्रंथ है। इस रचना का कथानक निम्नलिखित है—

इसमें विदर्भ देश की राजपुत्री मालविका एवं महाराज अग्निमित्र की प्रणय-कथा का रोचक वर्णन है। माधवसेन पर यज्ञसेन आक्रमण कर देता है और भयाक्रांत हो माधवसेन की बहिन मालविका विदिशा की ओर जान बचा कर भागती है। मार्ग में वनवासी उस पर आक्रमण कर देते हैं तथा वह बड़ी कठिनता से

अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच कर महारानी धरिणी का आश्रय लेती है। धरिणी उसको परिचारिका के रूप में नृत्यकला की सर्वोत्तम शिक्षा देती है। एक दिन अकस्मात् मालविका का चित्र देख अग्निमित्र उस पर अनुरक्त हो जाता है तथा अपनी प्रेमिका से साक्षात्कार करने के लिए व्याकुल रहने लगता है। विदूषक एक नृत्य-प्रदर्शन का प्रबंध करता है जहां पर दोनों एक दूसरे का सहसा दर्शन कर एक विचित्र आनन्द का अनुभव करते हैं।

दूसरे दिन उद्यान में मालविका धरिणी के लिए एक पुष्पमाला गुहती है। अग्निमित्र, उसकी पत्नी इरावती एवं विदूषक एक झाड़ी में छिपकर मालविका के सौन्दर्य को देखते हैं। आरम्भ में इरावती की विद्यमानता का दोनों को बोध तक नहीं होता। अग्निमित्र उससे मिलने के लिए आगे बढ़ते हैं। सहसा इस अवसर पर इरावती प्रकट हो जाती है तथा अपने पति अग्निमित्र के कार्य को अनुचित बताती हुई उसका निरादर करती है और मालविका को कारावास का दण्ड भी भोगना पड़ता है। कुछ देर पश्चात् सूचना मिलती है कि विदूषक को एक सर्प ने डंस लिया है जिसमें राजमहिषी की एक अंगूठी में लगा हुआ पाषाण चिकित्सार्थ आवश्यक है। महाराज उसको ग्रहण कर उससे अधिक आवयश्क कार्य मालविका को मुक्त करते हैं। इस प्रकार प्रेमियों को एक बार पुनः मिलने का सुअवसर मिलता है। पूर्व की भांति इरावती इस बार भी तिरस्कार करती है। राजकुमारी वसुलक्ष्मी को बंदरों ने सताया है। अग्निमित्र को उसके सहायतार्थ जाना पड़ता है। अतः यह मिलन अधिक काल नहीं रह पाता।

थोड़ी देर के उपरान्त सूचना मिलती है कि मालविका के भ्राता माधवसेन ने यज्ञसेन को परास्त कर दिया है। मालविका के राजकुमारी होने का भेद भी इसी समय प्रकट होता है। महारानी धरिणी के अधिकार में दो गायक कन्याएँ मालविका को विदर्भराज विजयी माधवसेन की बहिन घोषित करती हैं। अग्निमित्र के पिता महाराज पुष्यमित्र अश्वमेध यज्ञ करते हैं और विश्वविजयी होते हैं। उनका पौत्र वसुमित्र सिन्धु के तट पर यवनों को परास्त कर लौटता है। इस अवसर पर राजकीय हर्ष मनाये जाते हैं तथा मालविका एवं महाराज अग्निमित्र में सदा के लिए परम सुखद प्रणय-मिलन होता है।

मालविकाग्निमित्र ऐतिहासिक घटनाओं पर रचा गया एक नाटक है। इसके नायक अग्निमित्र शुंगवंश के प्रवर्तक महाराज पुष्यमित्र के पुत्र थे। इतिहासानुसार अग्निमित्र अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के सेनापति थे। अपने स्वामी का वध करने के उपरान्त अपने पूज्य पिता पुष्यमित्र को राज्याभिषिक्त कर उन्होंने शुंगवंश की स्थापना की। यह घटना ईसा से १८३ वर्ष पूर्व के लगभग की है। इतिहासवेत्ताओं का अनुमान है कि पुष्यमित्र ने यवनों या यूनानियों को परास्त कर अश्वमेध यज्ञ संपादित किया था। ये दोनों ही घटनाएँ कालिदास ने अपनी रचना में समाविष्ट की हैं जिनके आधार पर हम नाटक के उद्गम को ऐतिहासिक घटना के आधार पर मानने को प्रस्तुत होते हैं।

यद्यपि यह ग्रंथ कालिदास की प्रथम रचना है, कवि ने ऐतिहासिक घटनाओं को बड़ी ही कुशलतापूर्वक पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है। नाटक की समस्त घटनाएँ एवं पात्र अग्निमित्र की प्रणयसिद्धि में यथास्थान कौतूहल उत्पन्न करते हैं। कथानक के निर्माण एवं पात्रों के चरित्र-चित्रण में कवि ने आश्चर्यजनक कुशलता प्रदर्शित की है। प्रेमी और प्रेमिका अग्निमित्र और मालविका का पुनः-पुनः मिलन और वियोग दिखाकर कवि ने अपनी कृति में एक विचित्र रुचि उत्पन्न कर दी है। भाषा मनोहर, प्रसादपूर्ण एवं चित्ताकर्षक है। सरस एवं विनोदपूर्ण सामयिक श्लेषोक्तियां नाटक के संवादों में सुन्दर सजीवता उत्पन्न करती हैं। मानसिक भावों के गम्भीर चित्रण एवं मनोविकारों के जटिल विश्लेषण में कवि ने विशेष प्रतिभा का दिग्दर्शन इस ग्रंथ में नहीं कराया है जैसा कि उसकी पश्चाद्वर्ती कृतियों में दृष्टिगोचर होता है। कवि ने जीवन की अधिक व्यापक गतियों का स्पर्श न करते हुए अपने कथानक को अन्तःपुर के प्रणय-षड्यन्त्रों तक ही सीमित रखा है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में कवि ने अलौकिक निपुणता का प्रदर्शन किया है। समस्त ऋतुओं का कालिदास ने बड़ा ही सजीव और स्वाभाविक वर्णन किया है। इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए कवि ने ऋतुसंहार नामक एक अपूर्व खण्ड काव्य की रचना की। इस ग्रंथ में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है जिसका एक उदाहरण निम्नलिखित है—

"पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रे
सर्वैरुस्रैः समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥"
—मालवि० २।१२

हे राजन्! राजप्रासाद के अन्तर्गत वापियों की शोभा ग्रीष्म ऋतु में अवलोकनीय है। कमलपत्रों की शीतल छाया में मनोरम हंस आधी आंखें बंद किये ऊंघ रहे हैं। ग्रीष्म ऋतु के अत्यधिक ताप के कारण कबूतर महलों की ऊंची उष्ण छतों को त्याग कर इधर-उधर उड़ रहे हैं। पिपासा से व्याकुल जल की इच्छावाला मयूर इधर-उधर चक्कर काटने के उपरान्त फौवारे के पास आकर पुनः-पुनः बैठता है। सूर्य अपनी प्रचण्ड देदीप्यमान किरणों से उसी भांति उद्भासित होता है जिस प्रकार अपने समस्त राजकीय प्रशस्त गुणों से युक्त आप जैसे चक्रवर्ती सम्राट्।

उपर्युक्त पद में ग्रीष्म ऋतु का बड़ा ही चित्ताकर्षक एवं सहज वर्णन किया गया है। ऋतुओं के प्राकृतिक एवं स्वाभाविक वर्णन करने में कालिदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। प्रथम नाट्यकृति होने पर भी कालिदास की रचनाओं में मालविकाग्निमित्र का स्थान उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

विक्रमोर्वशीय

विक्रमोर्वशीय पांच अंकों का एक त्रोटक है जो कि दशरूपककार धनंजय के मतानुसार अट्ठारह उप-रूपकों का एक भेद है। इसमें महाराज पुरुरवा और अप्सरा उर्वशी की प्रणय-कथा का विशद वर्णन किया गया है।

अपनी एक रचना का नामकरण विक्रमोर्वशीय करके महाकवि कालिदास ने अपने एक परमावश्यक उद्देश्य की सिद्धि की। जैसा कि बताया जा चुका है, वह उज्जयिनी के चक्रवर्ती देदीप्यमान सम्राट् महाराज विक्रमादित्य के आश्रित राजकवि थे। विक्रमोर्वशी शब्द में विक्रम का समावेश हुआ है। इस नामकरण से महाकवि ने अपने आश्रयदाता को अमर बनाने का सफल प्रयत्न किया है।

विक्रमोर्वशीय में कवि की प्रतिभा मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा अधिक जाग्रत और प्रस्फुटित हुई है।

कथानक

कैलाश पर्वत से इन्द्रलोक लौटने पर उर्वशी नामक एक अप्सरा को केशी नामक भयानक दैत्य सता रहा है। संयोगवश महाराज पुरुरवा की दृष्टि उस ओर पड़ती है और वह इस अन्याय का प्रतिकार करने के हेतु उर्वशी का उस दैत्य से उद्धार करते हैं। इस प्रथम मिलन में ही वे दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। राजा उर्वशी को उसके संबंधियों को सौंप देता है। पुरुरवा अपनी भावी प्रेमिका संबंधी मनोव्यथा की सूचना अपने मित्र विदूषक को देता है। इसी अवसर पर महाराज को वल्कल पर लिखा हुआ उर्वशी का एक प्रणय-संदेश मिलता है, जिसे प्राप्त कर महाराज फूले नहीं समाते।

कुछ काल पश्चात् लक्ष्मी के प्रणय का अवसर आता है। भरत मुनि इस सुखद काल में एक नाटक के अभिनय का प्रबंध करते हैं जिसमें उर्वशी का भी भाग है। उर्वशी से उसके भावी पति के विषय में प्रश्न पूछा जाता है। उर्वशी भरत मुनि की इच्छा के विरुद्ध पुरुषोत्तम या विष्णु इस प्रश्न का उत्तर न देकर पुरुरवम् उत्तर देती है जिस कारण भरत मुनि कुपित होकर क्रोध की अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। वह उसे यह अभिशाप देते हैं कि वह इस लोक को त्याग कर मर्त्यलोक में जाकर निवास करे। इन्द्र-पुत्र-दर्शन पर्यन्त उसके श्राप की अवधि निश्चित कर देते हैं।

महाराज पुरुरवा राजधानी में लौट कर उर्वशी के विरह में ही व्याकुल रहते हैं। उर्वशी मर्त्यलोक में आकर अपनी सखियों के साथ पुरुरवा की दशा का वेश बदल कर अवलोकन करती है। महाराज की मनोव्यथा का अनुभव कर उर्वशी को अपने प्रति महाराज के अटूट प्रेम का निश्चय हो जाता है। सखियाँ उर्वशी को महाराज पुरुरवा को सौंप कर लौट जाती हैं तथा दोनों सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

एक दिन मंदाकिनी के तट पर खेलती हुई एक विद्याधर कुमारी की ओर

पुरुरवा देखने लगता है जिस पर उर्वशी क्रुद्ध हो जाती है। रूठने के उपरान्त वह कार्तिकेय के गंधमादन उद्यान में चली जाती है जहां स्त्री का प्रवेश वर्जित था। यदि कोई वनिता त्रुटिवश उसमें प्रविष्ट हो भी जाती तो वह कार्तिकेय के नियमानुसार लता रूप में परिवर्तित हो जाती थी। हतभागिनी उर्वशी की भी यही दुर्दशा होती है। महाराज पुरुरवा अपनी प्रियतमा के वियोग में अतिशय विलाप करते हैं। वह विरह की असह्य वेदना से पीड़ित हो हस्ती, शूकर एवं बारहसिंगा आदि पशुओं से तथा सरिता, तरंग वृक्ष आदि अचेतन पदार्थों से उर्वशी के गन्तव्य स्थान को जानने का प्रयत्न करते हैं। इस क्लान्त दशा में उन्मत्त की भांति अचेतन से हो जाते हैं तथा इधर-उधर भटकते हैं। उनकी इस दशा को शान्त करने के हेतु एक आकाशवाणी भी होती है जो उर्वशी के परिवर्तित रूप के विषय में उन्हें सूचना देती है। आकाशवाणी पुरुरवा को बताती है कि यदि वह संगमनीय मणि को अपने पास रख उर्वशीरूपी लता का आलिंगन करें तो वह अपने पूर्वरूप को प्राप्त हो जायेगी। पुरुरवा आकाशवाणी के आदेशानुसार अपनी प्रियतमा उर्वशी को उसका मूल रूप प्राप्त करवाने में सफल हो जाते हैं। दोनों राजधानी में लौटकर आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करने लगते हैं।

राजधानी में उन दोनों को वैवाहिक जीवन व्यतीत करते हुए बहुत काल व्यतीत हो गया जब कि एक दिन अकस्मात् वनवासिनी स्त्री एक अल्पवयस्क युवक के साथ महाराज पुरुरवा के दरबार में उपस्थित हुई। वह युवक उस समय सम्राट् का पुत्र एवं राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया गया। इसी अवसर पर अपने शाप की निवृत्ति के अनुसार उर्वशी भी इन्द्रलोक में लौट जाती है। उर्वशी के पुनः वियोग से महाराज को वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वे अपने पुत्र को राज्याभिषिक्त कर अपना शेष जीवन वन में बिताने का निश्चय करते हैं। पुरुरवा के लिए ऐसे महादुःखदायी अवसर पर नारद मुनि का आगमन होता है जिनसे उनके लिए महाहर्षमय सूचना मिलती है कि इन्द्र के आज्ञानुसार उर्वशी समस्त जीवन महाराज पुरुरवा की सहधर्मचारिणी ही रहेगी।

इस विक्रमोर्वशीय त्रोटक के हमें दो हस्तलिखित लेख प्राप्त हुए हैं। एक बंगाली और देवनागरी लिपि में लिखा गया है जिस पर सन् १६५६ ई० में रंगनाथ

नामक टीकाकार ने टीका लिखी है और दूसरा दक्षिण भारत में प्रचलित प्रणाली के अनुकूल पाया गया है तथा सन् १४०० ई० के लगभग कौण्डविड् ड के रेड्डि राजकुमार कुमारगिरि के मंत्री कात्यायन द्वारा लिखी हुई टीका उस पर उपलब्ध हुई है। इन दोनों हस्तलेखों में एक मुख्य भेद यह है कि बंगाली तथा देवनागरी लिपि में प्राप्त हस्तलेख के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश पद्यों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग है। यह नवीन प्रथा है। अतः कुछ विद्वान् इसे कालिदास की कृति होने में संदेह करते हैं। भेद होने पर उक्त लेख के कथित भाग का प्रक्षिप्त होना संभव है। संस्कृत के लगभग समस्त ग्रन्थों में कुछ न कुछ प्रक्षेप अवश्य हुआ है। अतः इस विषय में अधिक निर्णय करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। विक्रमोर्वशीय में मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा नाटककला का अधिक परिपाक दृष्टिगोचर हुआ है, यद्यपि कालिदास की नाटककला की पराकाष्ठास्वरूप अभिज्ञानशाकुन्तल की अपेक्षा काव्यशैली कम विकसित हुई है।

पुरुरवा और उर्वशी के प्राचीन आख्यान को नाटकीय रूप प्रदान कर कवि ने एक अलौकिक कार्य किया। इन्द्र का शाप, उर्वशी का रूप-परिवर्तन एवं पुरुरवा का विरह में उन्मत्त प्रलाप महाकवि की लेखनशैली की अनुपम कल्पना-शक्ति के उदाहरण हैं। द्वितीय एवं तृतीय अंक की कतिपय घटनाएं कथानक की प्रगति के लिए आवश्यक प्रतीत नहीं होतीं। विप्रलम्भ शृंगार का इस त्रोटक में आवश्यकता से कहीं अधिक चित्रण हुआ है। अभिज्ञानशाकुन्तल की अपेक्षा भाषा भी अधिक प्रांजल, प्रवाहपूर्ण, सौष्ठवयुक्त एवं प्रसादयुक्त नहीं है।

नारी-सौन्दर्य एवं प्रकृति की रमणीयता का कवि ने स्थान-स्थान पर बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है जिसके कतिपय उदाहरण यहां प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा। उर्वशी के प्रथम दर्शन के अवसर पर महाराज पुरुरवा उसकी दिव्य शोभा निहार कर अपने मन में इस प्रकार विचार करते हैं—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चंद्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहलः
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥"—विक्र० १।८

इस परम सुन्दररूपिणी कान्ता का निर्माता संभवतः स्वतः रमणीय कान्ति प्रदान करनेवाला चंद्रमा ही होगा। शृंगार रस की मूर्त्तिमान् प्रतिमा कामदेव अथवा नाना पुष्पों का भंडार वसन्त भी इसके निर्माण-कार्य में सफल हो सकता है। परन्तु यह स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता कि निरन्तर वेदों के अभ्यास में रत रहने के कारण शुष्क-हृदय एवं समस्त विषय-वासनाओं से उदासीन ब्रह्मा इस अद्वितीय मनोहर रूप की सृष्टि में समर्थ हो सके हों। इस श्लोक में संदेह अलंकार द्वारा उर्वशी के सम्भाव्य रूप का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रजापति या उर्वशी के निर्माता के विषय में शङ्का उत्पन्न कर कवि ने उस नारी के रमणीयतम रूप की कल्पना पाठकों के हृदय में स्वाभाविक रीति से करा दी है।

विरह के वर्णन एवं प्रकृति की अनुपम छटा का भी उदाहरण देखिए। उर्वशी के लतारूप में परिवर्तित हो जाने पर महाराज पुरुरवा एक नदी की तरंग को अपनी प्रियतमा के अनुरूप समझ कर इस प्रकार सोचता है—

तरंगभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं संरम्भशिथलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदी भावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥—विक्र० ४।२८

प्रियतमा उर्वशी मालूम पड़ता है कि मेरे असह्य अपराधों को न सहन कर सकने के कारण दुःख के वशीभूत हो नदी के रूप में परिवर्तित हो गयी है। तरंगें उसकी तिरछी भौहों के समान हैं, सुन्दर कलरव करते हुए पक्षिगण उसके कटिसूत्र हैं। अत्यधिक कोप के कारण फेनरूपी उसके वस्त्राञ्चल गिर गये हैं तथा वह चली आ रही है। इस श्लोक में नारी-सौन्दर्य की प्राकृतिक पदार्थों से तुलना तथा प्रकृति रूप नदी की नारी-सौन्दर्य से अनुरूपता प्रकट कर महाकवि कालिदास की काव्य-शैली का रोचक चित्र खींचा गया है।

अभिज्ञान शाकुन्तल

अभिज्ञान शाकुन्तल महाकवि कालिदास की सर्वोत्कृष्ट रचना है जिसमें

उनकी नाटक-रचना सम्बन्धी एवं काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिपाक मिलता है। यह नाटक अपनी रोचकता, रचना-कौशल एवं सर्वप्रियता के कारण संस्कृत के समस्त दृश्यकाव्यग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसमें सात अंक हैं जिनमें दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय, वियोग और पुनर्मिलन की कथा का बड़ा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। हस्तिनापुर के महाराज दुष्यन्त मृगया में बहुत प्रवीण हैं। एक बार संयोगवश इसी व्यसन के वशीभूत होकर वह कण्व मुनि के आश्रम में पहुंच गये और वहीं उनका मुनि-कन्या शकुन्तला से साक्षात्कार हुआ। उस कन्या के जन्म का वृत्तान्त ज्ञात होने पर महाराज सहसा ही उस पर अनुरक्त हो जाते हैं और शकुन्तला भी उनकी दिव्य आकृति पर मुग्ध हो जाती है। दोनों ही अपनी मनोकामना की सिद्धि के लिए गांधर्व विधि से प्रणयसूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। इसी अवसर पर किसी आवश्यक कार्य के आ जाने के कारण महाराज दुष्यन्त को अपनी राजधानी लौटना पड़ता है। जाते समय वह अपनी नामांकित अंगूठी शकुन्तला को यह कह कर भेंट कर जाते हैं कि जितने अक्षर मेरे नाम में हैं उतने ही दिनों के अन्तर्गत मैं तुमको अपने समीप बुलवा लूंगा।

महाराज दुष्यन्त के जाने के पश्चात् शकुन्तला निरन्तर उन्हीं के ध्यान में लीन रहती है और आवश्यक कार्यों की भी सुध नहीं लेती। ऐसे ही एक अवसर पर सहसा कोपमूर्ति दुर्वासा मुनि का आश्रम में प्रवेश होता है। शकुन्तला शून्य-हृदय होने के कारण उचित आदर-सत्कार करने में असमर्थ ही रहती है। इस पर रुष्ट होकर मुनि उस अबोध बालिका को यह शाप देकर लौट जाते हैं कि तुम जिसको स्मरण कर मुझ अतिथि का उचित आदर-सत्कार नहीं करती हो वह तुम्हें भूल जायगा और पुनः-पुनः याद दिलाने पर भी याद न करेगा। अभिज्ञान या चिह्न दिखाने पर ही यह शाप निवृत्त होगा। तीर्थयात्रा के उपरान्त लौटने पर कण्व मुनि को शकुन्तला के विवाह का वृत्तान्त ज्ञात होता है और वह तत्काल ही उसे पतिगृह भेजने का प्रबन्ध करते हैं। कन्या के बिदाई का चित्रण बड़ा ही मार्मिक एवं हृदयग्राही है जिसमें पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि भी मानवीय ढंग से स्नेहपूर्ण बिदाई देते हैं एवं करुण विलाप भी करते हैं।

दुष्यन्त, श्राप के वशीभूत होने के कारण, पत्नी शकुन्तला को अपने समीप

पहुंचने पर अस्वीकार कर देता है। इस विषम परिस्थिति में एक दिव्य ज्योति उसे आकाश में उड़ा ले जाती है और मरीचिकाश्रम में उसकी जन्मदात्री माता मेनका के समीप पहुंचा देती है। उसी के यहां शकुन्तला अपने वियोग के दिन काटती है। कुछ समय पश्चात् एक मछुए को राजा की नामांकित अंगूठी, जो शचीतीर्थ में वन्दना करते समय शकुन्तला द्वारा जल में छूट गयी थी, मिली, जिसे उसने राजा को ही समर्पित कर दिया। दुष्यंत को अंगूठी मिलने से अपने पूर्व विवाह का स्मरण हो आया और वह अपने दारुण कृत्य का स्मरण करके अत्यधिक व्याकुल हो उठा। इसके पश्चात् कालिदास ने दोनों ही शकुन्तला और दुष्यन्त, के विरह का वर्णन करने में अद्वितीय नाट्यकुशलता प्रदर्शित की है। अन्त में इन्द्र के सहायतार्थ स्वर्गयात्रा समाप्त कर लौटते हुए महाराज दुष्यन्त का मरीचिकाश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन एवं प्रियपत्नी शकुन्तला से साक्षात्कार तथा पुनर्मिलन होता है। दोनों अपनी राजधानी में लौट कर शेष जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं।

इस नाटक की मूलकथा महाभारत के आदि पर्व के अन्तर्गत शाकुन्तलोपाख्यान नाम से सर्ग ६९ से ७४ तक पायी जाती है। महाकवि कालिदास ने अपनी नाट्यचातुरी प्रकट करने के हेतु उसमें अनेक मौलिक परिवर्तन भी किये हैं। इन परिवर्तनों का नाटक पर प्रभाव ज्ञात करने के लिए मूलकथा का संक्षेप में यहां उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा।

महाराज दुष्यन्त अपने नगर से मृगया के लिए प्रस्थान करते हैं। उनके साथ में जानेवाली विशाल सेना का वर्णन करने के उपरान्त कवि वन के नागरिकों द्वारा राजा के भव्य सम्मान, प्राकृतिक दृश्य एवं मृगया का रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है। सेना के पीछे रह जाने के कारण वनों में होकर दुष्यन्त एकाकी ही महर्षि कण्व के आश्रम में पहुंच जाते हैं जहां कि उनका सर्वप्रथम मुनि-कन्या शकुन्तला से एकान्त में ही साक्षात्कार होता है। उस समय महर्षि कण्व फल लेने के लिए वन में गये हुए होते हैं। उचित अतिथि-सत्कार करने के उपरान्त वह राजा को स्वयम् ही अपने जन्म की कथा इस प्रकार सुनाती है—

महर्षि विश्वामित्र की उग्र तपस्या से भयभीत होकर देवराज इन्द्र ने मेनका नामक अप्सरा को दिव्य शक्ति प्रदान करने के बाद तप में विघ्न डालने के लिए

भेजा। जब मेनका महर्षि के समीप पहुंची तो वह उसके मोहिनी रूप पर मुग्ध हो गये। मेनका चिरकाल तक विश्वामित्र के समीप ही रही और उनका अनेक प्रकार से मनोरंजन करती रही। कुछ काल बीतने पर उन दोनों माता पिताओं ने मुझ शकुन्तला को जन्म दिया। मेरे जन्म के उपरान्त वह सफलमनोरथा मेरी माता तत्काल ही स्वर्ग को लौट गयी और जाते समय मुझे शकुन्त पक्षियों के मध्य में छोड़ गयी जिन्होंने मेरी रक्षा की और इसी कारण मेरा नाम शकुन्तला (पक्षियों द्वारा पाली गयी) पड़ा। उन्हीं के मध्य में से उठा कर महर्षि कण्व ने मेरा लालन-पालन किया।

इस प्रकार शकुन्तला से उसके जन्म का वृत्तान्त सुनने पर राजा का उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया और उन्होंने विवाह का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। राजा द्वारा धर्मोपदेश एवं गांधर्व विवाह का महत्त्व श्रवण करने के उपरान्त भी शकुन्तला ने अपने पुत्र को युवराज बनाने की शर्त रखी। राजा द्वारा उसके अंगीकार कर लिये जाने पर उन दोनों का परस्पर प्रणय हो जाता है। कुछ दिन में सेना सहित बुलाने का आश्वासन देने के उपरान्त दुष्यन्त लौट जाते हैं।

महर्षि कण्व को लौटने पर जब शकुन्तला का यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तब वह बहुत प्रसन्न हुए। कुछ काल बीतने के उपरान्त सर्वदमन का जन्म हुआ जो बाद में भरत के नाम से विख्यात हुआ। वह वन के हिंसक जन्तुओं के साथ खिलौनों के समान खेलता था तथा अन्य अनेकों अमानुषिक बाल-क्रीड़ाएँ करता था। उसके युवा और राज्यारूढ़ होने के योग्य होने पर कन्या को बहुत दिन तक पितृगृह में रखना अनुचित समझ कर कण्व मुनि ने शकुन्तला को शिष्यों सहित पतिगृह को भेजा, शिष्य उसे यथास्थान पहुंचाकर लौट आये। दुष्यन्त समस्त वृत्तान्त स्मरण होने पर भी पत्नी को अस्वीकार करते हुए उसके सम्मुख इस प्रकार बोला—"मुझे यह तनिक भी स्मरण नहीं कि मैं कभी तुम्हारे साथ प्रणय-सूत्र में आबद्ध हुआ हूंगा। तुम इस समय वेश्याओं के समान ऐसा आचरण क्यों कर रही हो?" शकुन्तला के बहुत समझाने पर और पत्नीव्रत धर्म का उपदेश देने पर भी दुष्यन्त न माना, तब आकाशवाणी द्वारा उसके भावी भाग्य का निर्णय हुआ। इस प्रकार महाराज दुष्यन्त ने लोकापवाद को ही कारण बताकर अपने कृत्य पर पश्चात्ताप

करते हुए शकुन्तला को धर्मपत्नी रूप में अंगीकार किया। तत्पश्चात् दोनों का शेष जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ।

इस प्रकार हमने देखा कि महाकवि कालिदास ने अपनी नाटक-रचना-सम्बन्धी प्रतिभा के आधार पर मूल कथा में अनेकों परिवर्तन किये। अब हम उनका विवेचन करते हुए उनके नाटक पर प्रभाव का संक्षिप्त अवलोकन करेंगे।

(१) वन, आश्रम, सेना, नगर आदि का महाभारत में बहुत ही विस्तृत वर्णन किया गया है जहां कि कथा का आरम्भ सेना सहित दुष्यन्त के अपने नगर से प्रस्थान से हुआ है। मार्ग में नर-नारियों द्वारा उनके भव्य सम्मान तथा सेना द्वारा मृगया का विस्तृत वर्णन है। दो वनों को पार करने के उपरान्त वह आश्रम में एकाकी ही प्रवेश करते हैं। कालिदास ने इन विस्तृत वर्णनों को नाटकीय दृष्टि से अनुपयुक्त समझ कर छोड़ दिया है। अभिज्ञान शाकुन्तल का आरम्भ रोचक नाटकीय ढंग से प्रस्तावना के बाद सूत सहित अत्यन्त वेगवान रथ पर बैठे हुए दुष्यन्त से होता है। वह एक मृग का पीछा करते हुए संयोगवश कण्व ऋषि के आश्रम में पहुंच जाते हैं। संन्यासी से वार्तालाप, विश्राम एवं भ्रमण के कारण बहु कालक्षेप के उपरान्त ही उनका शकुन्तला से साक्षात्कार होता है। कवि ने उन दोनों के प्रथम साक्षात्कार का भी सुन्दर चित्र खींचा है जब कि दुष्यन्त भौंरों के आतंक से व्याकुल शकुन्तला के समीप एक रक्षक के रूप में अपने पुरुवंश की मर्यादा के अनुसार अबला के रक्षार्थ पहुंचते हैं। किन्तु महाभारत के अनुसार दुष्यन्त आश्रम में पहुंचते ही शकुंतला से साक्षात्कार कर लेते हैं और उसका उचित आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करते हैं। कालिदास की नाटक आरम्भ करने की यह पृष्ठ-भूमि सचमुच ही बड़ी अनुपम है।

(२) महाभारत के शाकुन्तलोपाख्यान में शकुंतला प्रगल्भ, स्पष्टभाषिणी, निर्भीक तरुणी के रूप में चित्रित की गयी है जब कि कालिदास ने उसको लज्जा-शील, प्रेम-परायण और मुग्ध बालिका के रूप में अंकित किया है। महाभारत में दुष्यन्त उससे निर्जन वन में एकाकी ही मिलते हैं। महाराज द्वारा कौतूहल प्रकट करने पर वह अपने जन्म का वृत्तान्त भी स्वयं ही कहती है। यहां तक कि अपनी माता मेनका तथा पिता विश्वामित्र की प्रेमकथा का स्वयम् ही उच्चारण कर उचित

शिष्टाचार का भी उल्लंघन करती है। कालिदास ने शकुंतला के जन्म की कथा अपेक्षाकृत बहुत ही संक्षिप्त रूप में उसकी प्रिय सखी अनुसूया द्वारा कहलवायी है। "अनसूया—ततो वसन्तावतार रमणीये समये उन्मादहेतुकं तस्याः रूपं प्रेक्ष्य। इत्यर्द्धोक्ते लज्जाम् नाटयति।" अर्थात् यह कह कर कि इसके वसन्त ऋतु के संचार से उस रमणीय समय में उस मेनका का मादक रूप देख कर......ऐसा आधा ही वाक्य कह कर लज्जित हो जाती है। यह कालिदास ने स्त्रियोचित लज्जा एवं भारतीय मर्यादा का उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है।

(३) महाभारत में शकुन्तला अकेली है और उसका दुष्यन्त के साथ विवाह करने का ढंग भी एक सौदा सा प्रतीत होता है। राजा तो आरंभ में ही शकुंतला पर मोहित हो जाते हैं पर शकुन्तला उन पर तनिक भी आसक्त नहीं होती। उसको मनाने के लिए राजा को उसे विस्तृत धर्मोपदेश एवं गांधर्व विवाह पद्धति का धार्मिक महत्त्व समझाना पड़ता है। इस सबके उपरांत भी शकुंतला राजा के समक्ष प्रणय विषय में एक अद्भुत शर्त रखती है जो कि निम्नलिखित है—

मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम्।
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥
—महा० आदि० ७३, १६, १७

हे राजन्! जो मुझसे उत्पन्न पुत्र हो वही आपके उपरान्त आपके साम्राज्य का युवराज हो। यह शर्त राजा द्वारा स्वीकार होने पर ही उन दोनों का प्रणय होता है। इस आख्यान के प्रतिकूल अभिज्ञान शाकुन्तल में कालिदास ने प्रेम का स्वाभाविक विकास दिखाया है जिसमें दुष्यन्त ही नहीं अपितु शकुन्तला भी उसके दिव्य गुणों पर समान रूप से अनुरक्त है।

दुष्यन्त विदूषक से शकुन्तला विषयक अपनी मनःकामना प्रकट करता है तथा अपनी प्रेमिका की प्राकृतिक चेष्टाओं से उसकी मानसिक व्यथा का भी अनुभव करता है। इस विषय में शकुन्तला अपनी सखियों से इस प्रकार अनुमति लेती है—'यदि वामनुमतं स्यात्तथा वर्तेथा : यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि' अर्थात् हे मेरी प्यारी सखियो, यदि तुम दोनों की अनुमति हो तो ऐसा प्रबंध करो कि मैं

उस राजर्षि की कृपापात्री बनी रहूं। इस प्रकार कालिदास ने दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों के ही चरित्रों में उचित शिष्टाचार का प्रदर्शन किया है।

(४) महाभारत में दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों ही अकेले हैं। एकान्त में सब वार्तालाप, प्रेम का विकास एवं विवाह आदि सम्पन्न होता है। कालिदास को यह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता अतः वह शकुन्तला के सहायतार्थ प्रियंवदा और अनुसूया नामक दो सखियों का नाटक में समावेश करते हैं। इसी प्रकार विदूषक दुष्यन्त का अभिन्न साथी है। इन तीनों के नाटक में समावेश करने से कथानक की रोचकता और स्वाभाविकता में आशातीत वृद्धि हुई है।

(५) महाभारत की कथा में कण्व फलों के संग्रह करने के हेतु वन में गये हुए हैं और उनकी थोड़ी ही देर की अनुपस्थिति में यह सब काण्ड हो जाता है। प्रेम के विकसित होने में समय अवश्य लगता है। इसलिए महाकवि ऋषि को शकुन्तला के भावी अरिष्ट की निवृत्ति के लिए सोमतीर्थ भेज देते हैं और उन्हें आश्रम से एक दीर्घकाल तक अनुपस्थित कर दोनों को कई बार मिलने और विरह में व्याकुल होने का अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रकार दीर्घ सहवास से उन दोनों के परस्पर प्रेम को प्रगाढ़ होने का अधिक अवसर मिलता है जो कि निश्चय ही महाभारत की अपेक्षा अधिक सरल, स्वाभाविक और रमणीयतर है।

(६) कण्व को दुष्यन्त और शकुन्तला के परस्पर प्रणय की सूचना किस प्रकार मिलती है, यह भी विचारणीय है। महाभारत के ढंग को परिवर्तित कर कालिदास ने अपनी प्रतिभा का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया है। महाभारत में फल लेकर लौटने पर शकुन्तला स्वयम् ही उनके पास जाकर इस प्रकार कहती है—

"मया पतिर्वृतो राजा दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः।
तस्मै ससचिवाय त्वं प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥" महा० आदि० ७३,३२

हे पिता! पुरुषश्रेष्ठ महाराज दुष्यन्त को मैंने पति-रूप में वरण कर लिया है। अब आप कृपया मंत्रियों सहित उन पर प्रसन्न हो अनुग्रहदृष्टि रखिए। इस प्रकार स्वयम् ही शकुन्तला द्वारा कण्व को ऐसी सूचना देना यथोचित शिष्टाचार का उल्लंघन कर निर्लज्जता और प्रगल्भता का उदाहरण है। कालिदास ने यह सूचना

किसी के मुख से न कहला कर एक छंदोमयी वाणी द्वारा प्रकट करना ही श्रेष्ठतर समझा है, शकुन्तला की प्रिय सखी प्रियंवदा ने जिसका वर्णन इस प्रकार किया है—

"दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव॥"
—अ० शा० ४।३

हे ब्राह्मण! जिसके गर्भ में अग्नि रहती है ऐसी शमीलता के समान आपकी कन्या ने दुष्यन्त के द्वारा तेज को गर्भ रूप में धारण किया है। यह भली भांति समझ लीजिए और तदनुकूल आचरण कीजिए।

इस घटना के अनुकूल सूचना देने का कालिदास का यह ढंग ही सचमुच बड़ा निराला है।

(७) विवाह होने के उपरान्त अति दीर्घ काल तक कन्या को पिता के घर में रखना अनुचित है। महाभारत की कथा के अनुसार शकुन्तला विवाह के पश्चात् चिरकाल तक अपने पिता कण्व के समीप ही रहती है। आश्रम में ही भरत का जन्म और लालन-पालन होता है। भरत के युवा और राज्यारूढ़ होने के योग्य होने पर ही कण्व शकुन्तला को उसके पति के समीप भेजते हैं। यह भारतीय मर्यादा के प्रतिकूल है। अतः अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व को इस प्रणय की सूचना दिलवाते ही शकुन्तला को तत्काल ही पतिगृह भिजवाने की व्यवस्था की गयी है। इस विषय में कण्व की उक्ति उल्लेखनीय है—

"अर्थो हि कन्या परकीय एव,
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातोऽस्मि सद्यो विशदान्तरात्मा
चिरस्य निक्षेपमिवार्पयित्वा॥"—अ० शा० ४।२४

कन्यारूपी धन वास्तव में पराया ही होता है। आज उसे उसके ग्रहण करनेवाले स्वामी दुष्यन्त के समीप भेज कर मैं उसी प्रकार निश्चिन्त हूं, जैसा किसी की बहुत

दिनों की धरोहर उसको लौटा देने पर निश्चिन्तता होती है। आज मुझे शकुन्तला रूपी दुष्यन्त की धरोहर उसके स्वामी को लौटा कर अत्यधिक प्रसन्नता, निश्चिन्तता, एवं आनंद हो रहा है। इस उक्ति से कवि जहां विवाह के उपरांत तत्काल ही कन्या को पति-गृह भेज देने की प्राचीन भारतीय मर्यादा का पालन करता है, उसी के साथ ही कन्या के बिदा करने के उपरान्त प्रत्येक मननशील पिता की मानसिक दशा को भी व्यक्त करता है।

(८) दुर्वासा के श्राप को नाटक में समाविष्ट करना कालिदास के समस्त नाटकीय परिवर्तनों में प्रधान है। इससे महाराज दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा होती है और वह सदाचारी प्रमाणित होते हैं। महाभारत के शाकुन्तलोपाख्यान में उपलब्ध वृत्तांत के अनुसार कण्व अपने शिष्यों सहित शकुन्तला को उसके पति के समीप भेजते हैं। वे उसे राजा को बिना सौंपे ही उसके समीप छोड़ कर चले जाते हैं। राजा को अपने विवाह का पूर्व वृत्तांत स्मरण रहते हुए भी वह अपनी पत्नी को अस्वीकार कर देता है। इस अवसर पर भी अपने पति को समझाने के लिए शकुन्तला अकेली है और साथ में युवक पुत्र भरत है। शकुन्तला दुष्यन्त को पुत्रप्रेम प्रदर्शित करने की प्रेरणा करती है और उसके स्पर्श से प्राप्त होनेवाले सुख का वर्णन इस प्रकार करती है—

प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः॥

यह कह कर शकुन्तला दुष्यन्त को पत्नीव्रत धर्म का विस्तृत उपदेश देती है और उसको पत्नी-त्यागी एवं महा पापी बताती हुई क्रुद्ध होती है। दुष्यन्त इस पर भी राजी नहीं होता। एक आकाशवाणी होती है जो उनके परस्पर गांधर्व विवाह की सत्यता को घोषित करती है जो इस प्रकार है—

"त्वं चाऽस्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला।
जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधाकृतम्॥"
—महा० आदि० ७४।११४

हे दुष्यन्त ! शकुन्तला ने जो कुछ कहा है सत्य ही कहा है। यह पुत्र तुम्हारे द्वारा ही उत्पन्न हुआ है। अपना अंग ही दो भागों में विभक्त होकर पुत्र के रूप में भार्या के गर्भ से जन्म लेता है।

हे महापौरव ! अपने पुत्र और पत्नी को स्वीकार कर आनन्द का उपभोग करो। ऐसी आकाशवाणी होने पर महाराज दुष्यन्त पत्नी और पुत्र को लज्जित होकर स्वीकार करते समय कहते हैं कि मैंने विवाह अवश्य किया था परन्तु सम्भवतः लोक इस घटना को सत्य स्वीकार न करता। इसी कारण मैंने ऐसा आचरण किया है। आकाशवाणी से मेरे पूर्व कृत्य की पुष्टि हो गयी है। अतः अब मैं इन दोनों को सहर्ष स्वीकार करता हूं।

संस्कृत नाटक-साहित्य के नियमानुसार नाटक का नायक "धीरोदात्त" प्रताप-वान्, गुणवान्, नायकोमतः अर्थात् सच्चरित्र, लोक के लिए आदर्श होना चाहिए। दुष्यन्त के शकुन्तला को अस्वीकार करने से उसका चरित्र किसी भांति नायक के अनुरूप नहीं हो सकता और इस वृत्तांत से उस जैसे पुरुषवंश में उत्पन्न सम्राट् के चरित्र में कलंक आता है तथा वह असत्यवादी प्रमाणित होता है। इसी कारण कालिदास ने दुर्वासा ऋषि के श्राप का समावेश किया है। पति की सतत चिन्ता में व्याकुल रहने के कारण दुर्वासा ऋषि के आगमन पर शकुन्तला उनका यथोचित अतिथि-सत्कार करने में असमर्थ रहती है और वह उस पर क्रुद्ध हो श्राप दे देते हैं कि जिस पति को तुम स्मरण कर रही हो वह तुम्हारा प्रणय विषयक समस्त वृत्तान्त भूल जावेगा और तुम्हारे द्वारा पुनः-पुनः स्मरण करवाने पर भी उसे याद नहीं आयेगा। उसकी सखी अनुसूया के दुर्वासा को बहुत समझाने पर उन्होंने दुष्यन्त के सम्मुख कोई चिह्न या अभिज्ञान उपस्थित करना शकुन्तला के श्राप की निवृत्ति मान लिया। पति के समीप पहुंचने पर वह उसे अस्वीकार करता है। इस अवसर पर महाभारत की कथा के समान वह अकेली नहीं है परंतु उसके साथ गौतमी और कण्व के प्रधान शिष्य शार्ङ्गरव तथा शारद्वत भी हैं। शकुन्तला के अस्वीकृत होने पर वह स्वयं तथा उसके सहयोगी दुष्यन्त को समझाते हैं तथा महाराज शकु-न्तला द्वारा चिह्न दिखलाने के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेते हैं। शक्रावतार में वन्दना करते समय जल में अंगूठी के गिर जाने के कारण शकुन्तला ऐसा करने में

असमर्थ होती है। इसलिए उसका पति उसे किसी भांति भी स्वीकार करने में उद्यत नहीं होता। आकाश से एक दिव्य ज्योति का आगमन होता है तथा वह शकुन्तला को उसकी माता मेनका के समीप ले जाती है।

महाभारत की कथा में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का अस्वीकार किया जाना उसके चरित्र को कलंकित कर देता है। एक राजर्षि के लिए स्वेच्छानुसार गांधर्व विवाह करने के उपरान्त लोकापवाद के भय से पत्नी को अस्वीकार करना सचमुच ही असत्याचरण है और भारतीय सभ्यता के अनुसार सर्वथा अनुचित है। दुष्यन्त के इस कलंक को दूर करने के लिए इस श्राप का निर्माण किया गया है। उसको पूर्व वृत्तांत विस्मृत हो जाता है। यही कारण है कि वह अपनी पत्नी को आगन्तुक गर्भवती स्त्री के रूप में अस्वीकार कर देता है। यह विचार कर उसके लिए ऐसा करना किसी प्रकार भी अनुचित प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार महाकवि कालिदास ने अपने नाटक के नायक के चरित्र को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए एक अनुपम प्रतिभा दिखलायी है। महाभारत में आकाशवाणी के उपरान्त दोनों के विवाह की पुष्टि होती है और शकुन्तला को पत्नी के रूप में स्वीकार किया जाता है। कालिदास का भी दोनों के मेल करवाने का ढंग सचमुच अनुपम है। इन्द्र को सहायता पहुंचाने के उपरान्त लौटते समय वह मरीचाश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन से मिलते हैं। उस समय वह बालक सिंह के साथ खेलता हुआ पाया जाता है जिसको अवलोकन कर उन्हें एक अद्‌भुद् वात्सल्य रस का अनुभव होता है। सहसा ही उन्हें उससे प्रीति हो जाती है। उसकी शैशवीय चेष्टाओं का राजा के मन पर असाधारण प्रभाव पड़ता है और वह पुत्राभाव के कारण बहुत दुखी होते हैं और कहते हैं

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासं......
रव्यक्तवर्णरमणीयवचः - प्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा कलुषीभवन्ति॥—अ० शा० ७।१७

अकारण हँसने से जिसके नये-नये दांत कभी-कभी दिखाई दे जाते हैं, तोतली बोली में बोले गये जिसके वाक्य बड़े मीठे लगते हैं और गोद में आने के लिए जो प्रार्थना

कर रहा है, ऐसे पुत्र या पुत्री के गोद में लेने से भाग्यवान् पुरुषों के ही अंग उन बच्चों की धूल से मलिन होते हैं अभागों के नहीं।

इस उक्ति से पुत्रहीन लोगों की मानसिक व्यथा का स्पष्ट चित्रण मिलता है।

सर्वदमन के जातकर्म संस्कार के समय महर्षि मरीचि ने उसकी बाहु पर एक रक्षासूत्र बांधा था जिसके भूमि पर गिरने पर उसके माता-पिता और उसके अतिरिक्त यदि अन्य कोई व्यक्ति किसी कारणवश उसे उठा ले तो वह सूत्र सर्प का रूप धारण कर उसे डस लेता था। इसी अवसर पर वह सूत्र गिर पड़ा तथा सहसा दुष्यन्त ने उसे उठा लिया और उसका उन पर किंचिन्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार उनके पुत्र-पिता-सम्बन्ध की पुष्टि हुई। यद्यपि इसके कुछ प्रमाण पहले भी मिल चुके थे जो कि दुष्यन्त के हृदयोद्‌गार से प्रकट हो चुके थे। इस प्रकार महाराज दुष्यन्त का उनकी पत्नी से साक्षात्कार एवं पुनर्मिलन होता है और श्राप का वृत्तांत ज्ञात होने पर शकुन्तला पति के पूर्वकृत्य को किसी भांति अनुचित नहीं समझती तथा दोनों एक अलौकिक आनंद का अनुभव करते हैं। कालिदास का उन दोनों पति-पत्नी के मिलन करवाने का ढंग सचमुच बहुत अनूठा है।

(६) अंगूठी की घटना का समावेश करने से भी नाटक में एक रोचक विचित्रता उत्पन्न हो गयी है। दुष्यन्त अपनी राजधानी की ओर प्रस्थान करते समय शकुन्तला को प्रेम-भेंट के रूप में अंगूठी प्रस्तुत कर लौट जाते हैं। यही अंगूठी कोपमूर्ति दुर्वासा ऋषि के परम दुःखदायी श्राप का उपराम करने में भी समर्थ होती है और शक्रावतार में गिर जाने के कारण शकुन्तला अपने पति को अपने प्रणय का पूर्व वृत्तांत स्मरण करवाने में असमर्थ होती है। इसी अंगूठी की घटना के समावेश करने के कारण महाकवि कालिदास को तत्कालीन दंड-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करने में पर्याप्त सफलता मिली है जो कि अंगूठी के महाराज के समीप पहुंचने तक में घटित होती है, जैसा कि अंगूठी पानेवाले मछुए के प्रति अधिकारियों के व्यवहार से विदित होता है। अंगूठी पाकर शकुन्तला की दुष्यन्त को याद आती है और वह सतत उसके विरह में व्याकुल रहने लगता है। इस घटना के नाटक में समावेश करने से कालिदास को विरह का रोचक वर्णन प्रस्तुत करने का भी पर्याप्त अवसर मिला।

हमने उपर्युक्त पंक्तियों में महाकवि द्वारा किये गये उन परिवर्तनों का संक्षेप में अवलोकन किया है जो उसने अपने अमर नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल में महाभारत के आदि पर्व के अन्तर्गत 'शाकुन्तलोपाख्यान' की मूल कथा में किये हैं। इन परिवर्तनों के ही कारण कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं और "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" उनकी सर्वश्रेष्ठ नाट्य कृति समझी जाती है।

अभिज्ञान शाकुन्तल में सामाजिक चित्रण

इस ग्रंथ के अवलोकन करने से कालिदास के समय की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति पर पूर्णरूपेण प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मण यज्ञ-याग, अध्ययन-अध्यापन आदि कार्यों में रत रहते थे। राजा प्रजा का रंजन करनेवाला ही होता था। वैश्य व्यापार के लिए दूर देशों में आवागमन किया करते थे तथा समुद्र-यात्रा में भी कुशल थे। शूद्र भी स्वधर्मानुसार राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति में ही रत रहना अपना श्रेय समझते थे। आश्रम-मर्यादा की भी उस समय पर्याप्त प्रगति थी। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम विधिवत् समाप्त कर लोग वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे।

राजा दुखियों एवं पीड़ितों की रक्षा करना अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझता था। शकुन्तला के समीप सर्वप्रथम दुष्यन्त भौंरे के अन्याय के रक्षक के रूप में ही पहुंचता है।

मनु के आज्ञानुसार राज्यकर आय का छठा भाग लिया जाता था जो कि महाकवि द्वारा प्रयुक्त राजा के लिए षष्ठांशवृत्ति शब्द से प्रकट होता है। नि:संतान व्यक्ति के स्वर्गस्थ होने पर उसकी चल एवं अचल समस्त सम्पत्ति राजा के अधीन हो जाती थी। वृद्धावस्था में राजा सपत्नीक वानप्रस्थ आश्रम का अनुसरण करता था और राज्य का भार उचित उत्तराधिकारी पर पड़ता था।

कैदियों तथा अत्याचारियों को मारने के लिए अधिकारियों के हाथों में खुजली उठा करती थी और वे घूस लेने में बड़े कुशल थे। धीवर के प्रति किया गया दुर्व्यवहार इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

अभिज्ञानशाकुन्तल की भाषा एवं शैली

जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, अभिज्ञान शाकुतल महाकवि कालिदास की समस्त रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट एवं संस्कृत नाटक-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। भाषा भी सर्वथा ग्रंथ के अनुरूप ही सरस, प्रांजल, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण है। स्थान-स्थान पर मुहावरेदार वाक्यों तथा चुस्त प्रयोगों से कवि ने एक अपूर्व सजीवता का संचार किया है। शकुन्तला को दुर्वासा का श्राप हो जाने पर अनसूया प्रियंवदा से ऐसा प्रयत्न करने को कहती है कि यह चित्तविदारक समाचार कोमल-हृदय शकुन्तला के समीप न पहुंचे जिसका उत्तर प्रियवंदा बड़े ही चुभते हुए शब्दों में इस प्रकार देती है—

"क: इदानीमुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति . . . . ." "भला ऐसा कौन है जो कि जूही की कोमल कमनीय लता को उबलते हुए जल से सींचेगा।"

पात्रानुरूप भाषा के प्रयोग में भी कालिदास ने पर्याप्त कुशलता का परिचय दिया है। महात्मा कण्व की उक्तियां उनके सतत यज्ञयाग एवं अध्यापन-कार्य में रत रहने से सर्वथा उनके अनुकूल ही प्रतीत होती हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त के परस्पर गांधर्व विवाह का अनुमोदन करते हुए उनकी उक्ति है—

"दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।"

यह हर्ष का विषय है कि धूम से व्याकुल दृष्टिवाले यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी। इस प्रकार विदूषक की उक्तियों में उसके पेटूपन एवं हास्य की सुमनोहर झलक दृष्टिगोचर होती है।

न केवल मनुष्यों का अपितु पशु-पक्षियों के सुन्दर रूप का निरूपण करने में भी कवि को अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है। नाटक के आरंभ में महाराज दुष्यंत के रथ में जुते हुए घोड़ों की गति का वर्णन देखिए—

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यंदने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्‌भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्‌वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥" अ० शा० १।७

यह महाराज दुष्यन्त की अपने सारथी के प्रति उक्ति है. . . . .
यह अश्व पीछे तीव्र गति से दौड़ते हुए रथ की ओर बार-बार देखता है। बाण के आक्रमण के भय से अपने शरीर के पिछले भाग को अगले भाग के अन्तर्गत समेट लेता है अर्थात् अंगड़ाई लेता है। बहुत अधिक थकान के कारण उसका मुख खुल जाने से आधी चबायी हुई घास के गिर जाने से सारा रास्ता भर गया है। देखो न ऊंची-ऊंची चौकड़ी भरता हुआ यह अधिकतर आकाश में ही रहता है तथा भूमि में बहुत ही कम अर्थात् अत्यधिक तीव्र गति के कारण रथ में जुता हुआ घोड़ा अपने लिए भूमि की अपेक्षा आकाश में ही अधिक रहता है। यह श्लोक स्वभावोक्ति अलंकार का मनोहर उदाहरण है। उपमाओं के लिए कालिदास की शैली विख्यात है जैसा कि इस श्लोक से प्रकट होता है।

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥'

उपमा के रोचक और सरल वर्णन करने में कालिदास का स्थान न केवल संस्कृत के साहित्यकारों में अपितु संसार के समस्त साहित्याचार्यों में अग्रगण्य है। महात्मा कण्व के आश्रम में मुनि-कन्या शकुन्तला से प्रथम साक्षात्कार होने के सुअवसर पर महाराज दुष्यन्त उसके कमनीय रूप एवं अनवद्य सौन्दर्य के विषय में अपने हृदयोद्गार प्रकट करते हुए कहते हैं—

"अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥" अ० शा० २।१०

यह मुनि-कन्या शकुन्तला वह सुमनोहर सुमन है जिसे सूंघने का सौभाग्य अद्य पर्यन्त सम्भवतः किसी को प्राप्त नहीं हुआ है। यह एक कमनीय नूतन किसलय है जिस पर किसी के नाखून तक की खरोंच नहीं लग पायी है। यह वह अमूल्य रत्न है जो कि अभी तक बींधा नहीं गया। यह वह स्वच्छ मधु है जिसका कि अभी तक किसी ने स्वाद नहीं लिया है। इस विषय में मुझे अतिशय जिज्ञासा है कि न

जाने परम पिता परमेश्वर किस पूर्व जन्म के संचित पुण्यों के अनुरूप अनेकों गुणों के सारभूत पुरुष को इस निष्कलंक सुमनोरम सौन्दर्य का भोक्ता बनायेगा।

व्यंजना वृत्ति कालिदास की शैली का विशेष गुण है। एक भाव-विशेष का लम्बा-चौड़ा विस्तृत वर्णन न कर कवि उसकी सूक्ष्म एवं मार्मिक व्यजंना कर देना ही श्रेयस्कर समझता है। लम्बी प्रतीक्षा के उपरान्त जब दुष्यन्त शकुन्तला को देखते हैं तो सहसा आनन्दोल्लास व्यंजित करते हैं। 'अये लब्धं नेत्र-निर्वाणम्' अर्थात् मेरे नेत्रों ने निर्वाण का परमानन्द प्राप्त कर लिया है। जैसा कि योगी सतत परिश्रम और योगाभ्यास के उपरान्त निर्वाण का परमानन्द प्राप्त करता है उसी प्रकार आज मैंने नेत्रों से उस आनन्द का अनुभव किया।

दुष्यन्त कार्यवश शकुन्तला को छोड़कर अपनी राजधानी को चले जाते हैं और वहां से न कोई अपनी कुशल-क्षेम की सूचना भेजते हैं और न शकुन्तला की ही कुछ सुधि लेते हैं। इस अवसर पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। महर्षि दुर्वासा का उचित अतिथि-सत्कार न करने के कारण उसको शाप मिल जाता है। उसी के आधार पर हम उस हतभागिनी अबला शकुन्तला की मनोव्यथा का अनुमान कर सकते हैं।

चतुर्थअंक में जिस समय शकुन्तला पतिगृह जाने को उद्यत होती है उस समय का भी कवि ने बड़ा मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है। कन्या को प्रथम बार उसके पति के गृह में भेजने के अवसर पर प्रत्येक कुटुम्बी के हृदय में एक असाधारण मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है। उसका अनुभव करते हुए महर्षि कण्व कहते हैं

> **यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया**
> **कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।**
> **वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः**
> **पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया-विश्लेष-दुःखेन वै।।** अ० शा० ४।५

आज प्रिय शकुन्तला पतिगृह जायगी। अतः विषाद ने आकर मेरे हृदय को व्याकुलता से उत्कंठित कर दिया है। अश्रुधारा के रोकने का प्रयत्न करता हूं लेकिन वह कंठ की ध्वनि को अस्पष्ट कर देती है। सतत चिन्ता के कारण मेरी

दृष्टि-शक्ति भी कुंठित होने लगी है। जब मुझ जैसे वनवासी को स्नेह के कारण ऐसी विह्वलता की पराकाष्ठा हो रही है तब कन्या के नव-वियोग के अवसर विवाह पर साधारण गृहस्थ जनों की क्या अवस्था होगी।

पतिगृह-गमन के अवसर पर महात्मा कण्व का शकुन्तला के प्रति गार्हस्थ्य धर्म का उपदेश भी अवसर के सर्वथा अनुरूप है और आज भी एक सद्योविवाहिता वधू के लिए आदर्श है। वह इस प्रकार है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयः वामाःकुलस्याधयः॥ अ० शा० ४।१७

हे शकुन्तला ! तुम अपने सतत निवास-स्थान पतिगृह में पहुंच कर गुरु एवं अन्य पूज्य जनों की यथोचित सेवा करो, पति की अन्य सौतों से प्रिय सखी के समान आचरण करो। यदि किसी कारणवश तुम्हारा पति अपमान भी करे तो तुम क्रोधवश हो किसी कारण भी उसका अनिष्ट न करो। दास-दासी इत्यादि सेवक-वृन्द पर सदैव उदारता प्रदर्शित करती रहना। भोग एवं ऐश्वर्य में आसक्त होकर अभिमान कदापि न करना। हे प्रिय पुत्रि ! इस प्रकार उपर्युक्त रीति से आचरण करनेवाली मनस्वी स्त्रियां ही सहजतापूर्वक गृहिणी पद को प्राप्त होती हैं तथा इसके प्रतिकूल आचरण करनेवाली वनिताएं गृहवासियों के हृदय को विषादग्रस्त करती हुई कुलघातिनी होती हैं।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक ध्वन्यात्मक शैली का भी एक अपूर्व उदाहरण है। इस शैली के आधार पर कवि ने भविष्य की घटनाओं की ओर सूक्ष्म संकेत किया है। ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में "दिवसाः परिणामरमणीयाः" नाटक के सुखद अन्त की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार नाटक के आरम्भ में "ईषदीषच्चुम्बितानि सुकुमारकेशर शिखानि" इत्यादि श्लोक दुष्यन्त एवं शकुन्तला के अल्प-स्थायी मिलन की ओर संकेत करता है। "आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यः न हन्तव्यः" शकुन्तला के प्रति महाराज दुष्यन्त के दारुण प्रणय-प्रहार का सूचक है। इस प्रकार

की अनेकों उक्तियों का समावेश इस अनुपम नाटक में किया गया है जो कि भावी घटनाओं का पहले से ही संकेत मात्र हैं।

इस नाटक के पठन से हमें विदित होता है कि महाकवि कालिदास के समय में नृत्य, संगीत, चित्रकला इत्यादि ललित कलाओं का पर्याप्त विकास हो चुका था। कवि ने अपनी रचना में ऐसे अनेकों भावपूर्ण स्थल उपस्थित किये हैं जिनका बड़ा ही रोचक चित्र खींचा जा सकता है। दुष्यन्त धीवर द्वारा अपनी खोई हुई अंगूठी को पाकर अपनी प्रियतमा के प्रति किये गये अपराधों का स्मरण करते हैं तथा विलाप करते हुए शकुन्तला द्वारा चित्रित एक सुन्दर चित्र का बड़ा रोचक वर्णन करते हैं। वह चित्र अधूरा है। मालनी नदी, हिमालय, हंसयुगल, हरिण के चित्रण में अन्य अनेक उपयुक्त न्यूनताओं को बता कर दुष्यन्त ने तत्कालीन चित्र-कला का परिचय दिया है।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में प्रकृति एवं जड़पदार्थों का मानवीकरण बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। पशु-पक्षी एवं तपोवन के वृक्ष-लता एवं तरु भी मानवी वेदनाओं के प्रति उचित समवेदना प्रकट करते हैं। शकुन्तला के पतिगृह-गमन के अवसर पर तपोवन के तरुओं तथा लताओं को संबोधित करते हुए महात्मा कण्व कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्माष्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ अ० शा० ४।८

जो आप लोगों की यह प्रिय शुभचिंतिका आप लोगों को सींच कर जब तक पानी नहीं पिला लेती थी स्वयं जल तक ग्रहण नहीं करती थी, जो अत्यधिक शृंगार प्रिय एवं सजने की शौकीन होने पर भी आप लोगों के प्रति अतिशय स्नेह होने के कारण कोई किसलय व कोमल पत्र भी न तोड़ती थी। आपके पुष्प लगने के समय जो अति हर्ष-उल्लास मनाया करती थी आज वही शकुन्तला अपने पतिगृह को प्रस्थान कर रही है, आप सब लोग इस अवसर पर उसे जाने की उचित अनुमति

प्रदान करें। चेतन के प्रति अचेतन प्राणियों की आत्मीयता का यह सुन्दर उदाहरण है। इस अवसर पर समस्त तपोवन की व्याकुलता का भी एक चित्र देखिए—

"उद्गलितदर्भकवलाः मृगयः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः"॥
—अ० शा० ४।११

हरिणियों के मुख से भी इस असाधारण दुःख के अवसर पर घास गिर पड़ती है। मोर नाचना त्याग देते हैं। लताएँ सूखे पत्ते के रूप में आंसू गिराती हैं। शकुन्तला वनज्योत्स्ना नामक लता-संगिनी का स्नेहपूर्वक आलिंगन करती है एवं गर्भिणी सखी मृगी का प्रसव संवाद भेजने के लिए पिता से साग्रह विनय करती है। शिष्ट एवं मनोहर परिहास का भी इस नाटक में बड़ा मनोहर एवं सुरुचिपूर्ण वर्णन किया गया है। द्वितीय अंक में जब सेनापति राजा के सम्मुख मृगया के गुणों का वर्णन करता है विदूषक उसे अपनी स्वाभाविक हास्यपूर्ण वाणी में उत्तर देता है।

मृगया में उत्साह न बढ़ा कर तुम शान्त रहो। तुम वन में भटको। मनुष्य के नासिका-भक्षण के लालची किसी वृद्ध भालू के मुख में तुम पुनः गिर जाओगे।

इसी प्रकार छठे अंक में विरह-व्याकुल दुष्यन्त के आम्रमंजरी को मदन-बाण कहने पर विदूषक उस पर लाठी से प्रहार करने के लिए दौड़ता है। इस अंक का प्रवेशक धीवर तथा दंड-विभाग के अधिकारियों के मध्य में बड़ा ही मनोहर विनोदपूर्ण कथनोपकथन प्रस्तुत करता है।

इस अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक के नायक महाराज दुष्यन्त धीरोदात्त नायक हैं। वे मनोहर, गम्भीराकृति, पराक्रमशाली एवं ललितकला-मर्मज्ञ हैं।

पांचवें अंक में सम्राज्ञी हंसपदिका द्वारा उलाहना सुनकर उनकी उक्ति (अहो राग परिवाहिनी गीतिः) उनकी संगीत एवं ललित-कला-प्रियता की परिचायक है। प्रकृति के सौन्दर्य का उन पर असाधारण प्रभाव पड़ता है। ऋषि-मुनियों के आश्रम के प्रति उनमें अटूट श्रद्धा है जिसको शार्ङ्गरव की कटूक्तियां किंचिन्मात्र भी विचलित करने में समर्थ न हुईं। महात्मा कण्व के आश्रम में दैवी सुन्दरता की मूर्तिमान् प्रतिमा शकुन्तला पर अनुरक्त होना सर्वथा उनके

अनुरूप ही था। उस आश्रम-कुमारी को सहधर्मचारिणी बनाने के पूर्व उन्होंने अपनी कुल-मर्यादा के अनुसार उसका ब्रह्मचारिणी होना निश्चित कर लिया था। अनेक पत्नियों के भर्ता होने पर भी दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति सदैव विशेष रूप से कारुणिक रहते थे।

कवि ने नाटक के नायक दुष्यन्त की मानवोचित दुर्बलताओं का भी यथा-स्थान दिग्दर्शन कराया है। आरंभ के तीन अंकों में पतन, तत्पश्चात् दो अंकों में उन्नति की चेष्टा और अंतिम दो अंकों में उत्थान है। एक कन्या पर दृष्टिपात करते ही सहसा उस पर अनुरक्त हो जाना, युवतियों की विलासमय क्रीड़ा को लता एवं झाड़ियों में छिप कर देखना तथा शकुन्तला के अभिभावक कण्व की वापसी के लिए कुछ भी प्रतीक्षा न करना, स्वेच्छापूर्वक महात्मा मनु द्वारा निषिद्ध बताये हुए गांधर्व रीति से उससे परिणय कर लेना उनके पतन की पराकाष्ठा की हमें सूचना देते हैं। माता की आज्ञा के विरुद्ध विदूषक से मिथ्या बोलकर उसे राजधानी भेज देना भी उनके लिए उचित नहीं है।

वह अकारण किसी सुन्दर स्त्री पर मोहित नहीं हो जाते।

"अनिर्वर्णनीयं परकलत्रं" तथा "अनार्यः परदारव्यवहारः," आदि उक्तियों में उनकी धर्मपरायणता की झलक मिलती है। छठे अंक में शकुन्तला का स्मरण होने पर वह अतिशय दुःख का अनुभव करते हैं। अपने राजकीय कर्त्तव्य एवं धर्म-व्यवस्था में वे किंचिन्मात्र भी उदासीनता प्रकट नहीं करते। पुत्र भरत को देख-कर उनमें एक अपूर्व वात्सल्य का भाव उत्पन्न होता है। अन्त में पत्नी शकुन्तला के चरणों में मस्तक रख क्षमा मांगना उनकी धर्म-परायणता एवं शिष्टाचार की भावना का चरमोत्कर्ष है।

नाटक की नायिका शकुन्तला के चरित्र-चित्रण में भी कवि ने अपनी असा-धारण प्रतिभा का परिचय दिया है। माता प्रकृति के संरक्षण में उसने अपने लावण्य एवं रूप का पर्याप्त विकास किया है। वह आश्रमवासिनी, ब्रह्मचारिणी होकर गृहस्थ है एवं ऋषि-कन्या के रूप में एक सहज प्रेमिका भी है।

शकुन्तला सहज स्वभाव की नारी थी तथा नारी-हृदय के प्रेम, उच्छ्वास एवं तरंग उसमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। पति के समान ही उसके

चरित्र में भी उसके उत्थान और पतन की भावना दृष्टिगोचर होती है। पतिदर्शन होते ही तत्काल ही उसके हृदय में प्रगाढ़ एवं अटूट प्रेम की जाग्रति होती है।

पांचवें अंक में जब पति उसे अस्वीकार कर समस्त नारी जाति को अशिक्षितपटुत्व का दोष लगाता है, उसके आत्मसम्मान पर भारी धक्का लगता है। वह भी अवसर से नहीं चूकती तथा राजा को धर्म का चोला पहिने तृण से ढँके कूप के समान कह कर अपने अलौकिक स्वाभिमान का परिचय देती है।

सातवें अंक में वह एक विरहिणी के रूप में चित्रित की गयी है। नाना प्रकार के कष्ट भोगने पर भी वह सदा पति के चिंतन में रत रहती है। पुत्र भरत के दुष्यन्त के विषय में प्रश्न करने पर "वत्स ते भागधेयानि पृच्छ" (बेटा अपने भाग्य से पूछ) उत्तर देती है। इस उत्तर में पति एवं दैव का अन्याय, पुत्र के प्रति स्नेह तथा विधाता के प्रति समुचित आदर अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार महाकवि कालिदास ने शकुन्तला को स्नेह, करुणा एवं लज्जा की एक सजीव प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत किया है।

अपने अनुपम कथानक एवं भाषा के लालित्य के कारण अभिज्ञान शाकुन्तल एक अत्यन्त लोकप्रिय नाटक हो गया है। संस्कृत साहित्य के विदेश-गमन होने पर विदेशों में भी इस नाटक का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सन् १७८४ ई० में रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के आदेशानुसार सर विलियम जोन्स नामक अंग्रेज विद्वान् ने इस नाटक का सर्वप्रथम अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका विदेशी पाठकों पर असाधारण प्रभाव पड़ा। जर्मनी देश के प्रसिद्ध कवि गेटे ने इस नाटक का अनुवाद पढ़ने के उपरान्त जो हृदयोद्गार व्यक्त किये वे आज भी स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। मूल जर्मन भाषा में है जिसका अंग्रेजी अनुवाद निम्नलिखित है—

"Wouldst thou the young year's blossoms
and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
enraptured feasted, fed ?

Wouldst thou the earth and heaven itself
in one soul name combine ?
I name thee, O Shakuntala and all at
once is said".

यदि यौवन-वसन्त का पुष्प-सौरभ और प्रौढ़त्व, ग्रीष्म का मधुर फल-परिपाक एकत्र देखना चाहते हो, अथवा अन्तःकरण को अमृत के समान सन्तृप्त एवं मुग्ध करनेवाली वस्तु का अवलोकन करना चाहते हो, अथवा स्वर्गीय सुषमा एवं पार्थिव सौन्दर्य इन दोनों के अभूतपूर्व सम्मिलन की अपूर्व झांकी देखना चाहते हो तो एक बार अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुशीलन एवं मनन करो।

१. अश्वघोष

(प्रथम और द्वितीय शताब्दी ई०)

महाकवि अश्वघोप संस्कृत साहित्य में प्रथम वौद्ध नाटककार हैं जिनके समय के विषय में वहुत कुछ निश्चित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। आप प्रसिद्ध वौद्ध सम्राट् कनिष्क के राजगुरु एवं आश्रित राजकवि थे। कनिष्क का राज्यकाल सन् ७८ से १२० ई० तक निश्चित ही है, जैसा कि प्रचलित शक संवत् से पता चलता है जो कि सम्राट् के राज्यारूढ़ होने के अवसर पर प्रचलित किया गया था। हर्ष का विपय है कि हाल में ही हमारी भारत सरकार ने इस संवत् को अपना कर देश के इस प्राचीन समृद्धशाली सम्राट् के प्रति अपना समुचित आदर व्यक्त किया है। अतः अश्वघोप का समय प्रथम शताब्दी का अन्त तथा द्वितीय शताब्दी का प्रारम्भ है। अश्वघोष ने पद्यकाव्य और नाटक-साहित्य दोनों में ही सामान्य रीति से काव्य-प्रतिभा का दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने सौन्दरनन्द तथा बुद्ध-चरित नामक दो महाकाव्य ग्रन्थों की रचना की है। सन् १६१० ई० में लूडर्स नामक एक पाश्चात्य विद्वान् को मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान में प्राचीन हस्त-लिखित लेखों की खोज करते हुए प्राचीन लेखों का एक वृहद् समुदाय उपलब्ध हुआ जिसमें तीन रूपक भी पाये गये हैं। उनमें से एक का नाम शारिपुत्र प्रकरण है। दो ग्रन्थ अपूर्ण दशा में उपलब्ध हुए हैं जिनके नाम एवं रचनाक्रम तक का ठीक पता नहीं चलता।

अश्वघोष बौद्ध धर्म के कट्टर अनुयायी थे इसलिए उनकी रचनाओं पर वौद्ध धर्म एवं महात्मा गौतम बुद्ध के उपदेशों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। शारिपुत्र प्रकरण एक प्रकार का संस्कृत रूपक है जिसका पूरा नाम शारद्वपुत्र प्रकरण है। जिस हस्तलेख संग्रह में यह ग्रंथ प्राप्त हुआ है, सौभाग्यवश उसमें कर्त्ता के नाम का

स्पष्ट उल्लेख है जो कि ग्रंथ के अंत में किया गया है। इस प्रकरण में ९ अंक उपलब्ध होते हैं। इसमें महात्मा गौतम बुद्ध द्वारा शारिपुत्र और मौद्गलायन नामक दो युवकों की बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की प्रथा का रोचक वर्णन है।

कथानक

इस ग्रंथ का कथानक इस प्रकार है—

विदूषक के प्रश्न करने पर शारिपुत्र और अश्वजित् नामक दो युवकों में परस्पर विवाद होता है। प्रश्न यह है कि महात्मा गौतम बुद्ध क्षत्रियकुल-उत्पन्न हैं, क्या उनसे शारिपुत्र जैसे ब्राह्मण कुलोत्पन्न युवक के लिए शिक्षा ग्रहण करना उचित है। शारिपुत्र इस प्रश्न का अत्यन्त संतोषजनक उचित उत्तर देता हुआ कहता है, औषधि अपने गुण के अनुसार लाभ पहुंचाती है चाहे वह उच्च वर्ण के वैद्य या निम्न कोटि के चिकित्सक द्वारा दी गयी हो। इसी प्रकार बिना किसी वर्ण के भेदभाव के सदुपदेश भी समस्त मानव मात्र को लाभ पहुंचाता है। अतः उपदेष्टा के वर्ण का विचार न करते हुए प्रत्येक पुरुष से उपदेश ग्रहण करना चाहिए। यह विवाद सुन मौद्गलायन और शारिपुत्र दोनों महात्मा बुद्ध के समीप जाते हैं और दीक्षा ग्रहण करते हैं। महात्मा बुद्ध दोनों को अपना विशेष प्रकार का भिक्षु बनाते हैं। इस समय दोनों को ही महात्मा बुद्ध का दिव्य आशीर्वाद प्राप्त होता है। दोनों ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त करेंगे।

यह शारिपुत्र प्रकरण अश्वघोष की विख्यात कृति बुद्धचरित से भी अधिक कलात्मक विशेषता प्रदर्शित करता है। दोनों ग्रंथों के समाप्त करने के ढंग की सविस्तर तुलना करने पर भिन्नता स्पष्टतया द्योतित हो जाती है। बुद्धचरित में बुद्ध की वाणी भविष्यवाणी के रूप में समस्त बौद्ध अनुयायियों के लिए कल्याणकारी बतायी गयी है, जब कि शारिपुत्र प्रकरण में बुद्ध और शारिपुत्र के मध्य दार्शनिक वार्तालाप दिखाकर नवीन शिष्यों को आशीर्वाद देते हुए ग्रंथ की समाप्ति की गयी है।

भरतवाक्य की आकृति में भेद

शारद्वत प्रकरण तथा संस्कृत साहित्य के अन्य नाटक ग्रंथों में भरतवाक्य

की आकृति में भी पर्याप्त भेद है। भरतवाक्य के पूर्व "अतः परमपि प्रियमस्ति" अर्थात् इससे भी अधिक प्रिय है वाक्य अन्य नाटकों में पाया जाता है जिसका उत्तर नायक भरतवाक्य के रूप में देता है जो कि राष्ट्रीय कल्याण के हेतु परमेश्वर से प्रार्थना होती है। शारद्वत प्रकरण में इस प्रथा के विरुद्ध उपर्युक्त उल्लिखित वाक्य का प्रयोग नहीं है। भरतवाक्य भी नायक द्वारा प्रार्थना न होकर वन्दनीय महात्मा गौतम बुद्ध द्वारा दोनों नवदीक्षित शिष्यों के प्रति आशीर्वाद है। भरत-वाक्य की इस आकृति के कारण लूडर्स का अनुमान है कि अश्वघोष के समय तक रूपक को समाप्त करने की प्रचलित प्रथा का श्रीगणेश नहीं हुआ था। कीथ का मत है कि महात्मा बुद्ध के उपस्थित रहते हुए नायक द्वारा भरतवाक्य का प्रयोग करवाना कवि ने उचित नहीं समझा। इस प्रकार नायक से उच्चकोटि के पात्र द्वारा भरत-वाक्य के प्रयोग करने की परम्परा बाद में भी प्रचलित रही जिसके आधार पर भट्ट नारायण ने वेणीसंहार में नायक भीम से यह वाक्य न कहलवा कर धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा कहलवाया है। इस मत का मुख्य आधार कालिदास को गुप्त-कालीन पांचवीं शताब्दी ई० में मानना है। भारतीय विद्वानों ने अकाट्य उक्तियों से कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० निर्णय कर दिया है। इस प्रकार अश्वघोष कालिदास के पश्चाद्वर्ती सिद्ध होते हैं, और लूडर्स का मत केवल एक कोरी कल्पना मात्र रह जाता है।

नाट्य शास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत मुनि के बताये हुए लक्षणों के अनुसार यह ग्रंथ एक विकसित प्रकरण है। इसमें ९ अंक हैं, यद्यपि शूद्रक-कृत मृच्छकटिक एवं महाकवि भवभूति-कृत मालती-माधव नामक प्रकरणों में दश अंक पाये जाते हैं। नायक शारिपुत्र भी शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही है। रूपक के भिन्न-भिन्न पात्र अपनी योग्यतानुसार संस्कृत तथा प्राकृत का प्रयोग करते हैं। बुद्ध, श्रमनक एवं शारिपुत्र संस्कृत बोलते हैं जब कि विदूषक प्राकृत। विदूषक एवं अश्वजित को बुद्ध की शरण में लाकर शारिपुत्र ने उनके प्रति महान् परोपकार किया है। इस उदाहरण से भी बौद्धमतावलम्बियों को अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रचार में प्रेरणा मिलती है जो कि अश्वघोष का सर्वोपरि लक्ष्य था।

दो अन्य नाटक

लूडर्स द्वारा हस्तलिखित लेखों की खोज करते समय शारिपुत्र प्रकरण के साथ दो अन्य नाटक ग्रंथ भी मिले हैं। उनके कर्त्ता के विषय में अभी तक कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है। एक साथ मिलने से विद्वानों ने उनको भी अश्वघोष की कृति होने का अनुमान लगाया है। शारिपुत्र प्रकरण तथा इन दोनों ग्रन्थों की आकृति एवं भाषा में भी कुछ साम्य अवश्य प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इस मत की पुष्टि में अन्य कोई दूसरा प्रमाण नहीं दिया जा सका है। उन दोनों में से एक रूपक का कथानक कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध चन्द्रोदय के समान है। इस ग्रंथ में धृति, कीर्त्ति, बुद्धि, ज्ञान, यश इत्यादि अमूर्त्त भावमय पदार्थों का, स्त्री एवं पुरुष पात्रों के रूप में चित्रित कर परस्पर वार्तालाप प्रदर्शित किया गया है। इन सब काल्पनिक पात्रों के मध्य बुद्ध पधारते हैं एवं धर्मोपदेश करते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी ई० में कृष्ण मिश्र द्वारा प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाटक की रचना की गयी है। इसमें उपर्युक्त अमूर्त्तमय भावों को भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुष पात्रों में चित्रित कर वेदान्त का उपदेश किया गया है। यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि कृष्ण मिश्र ने स्वतः अपनी कल्पना वा मौलिकता के आधार पर इस ग्रंथ की रचना की अथवा अश्वघोष की कृति से कथानक का आधार लिया है। कल्पना के अतिरिक्त इस विषय में अन्य कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। प्राचीन होने से अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः कृष्ण मिश्र ने अपने कथानक का आधार अश्वघोष की कृति के अनुसार किया हो। इस ग्रन्थ के समस्त पात्र संस्कृत में ही वार्तालाप करते हैं। अत्यधिक अपूर्ण अवस्था में प्राप्त होने के कारण हम इस ग्रंथ की सामान्य रूप-रेखा चित्रित करने में भी असमर्थ हैं।

दूसरे रूपक का कथानक अधिक रोचक है। इस रूपक की नायिका मगधवती है। कौमुद-गंध, विदूषक, सोमदत्त व दुष्ट अन्य पात्र हैं। नायक का कोई अन्य नाम से प्रयोग न करके नायक के नाम से ही उल्लेख किया गया है। धनञ्जय, दासी, भर्तृदारक या राजकुमार शारिपुत्र तथा मौद्गलायन भी इस ग्रंथ की शोभा बढ़ाते हैं। रूपक का बहुत ही अपूर्ण रूप हमें प्राप्त हुआ है जिस कारण हम यही निर्णय

कर पाये हैं कि इस ग्रंथ में एक अद्‌भुत हास्य का पुट पाया जाता है, विदूषक जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। शूद्रक-कृत मृच्छकटिक के समान ही नायिका का निवास-स्थान तथा एक जीर्ण उद्यान इस रूपक का मुख्य कार्यक्षेत्र है। विभिन्न पात्र वार-बार यानों पर चढ़ते उतरते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार तीनों ही रूपकों में विदूषक ब्राह्मण और हास्यप्रिय है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि हर्षवर्द्धन-कृत नागानन्द पर अश्वघोष की कृति की पर्याप्त छाप लगी है, जिसमें बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इन रूपकों में प्रारम्भिक नान्दी व प्रस्तावना का पता नहीं चलता। अन्य रूपकों की भांति शारिपुत्र प्रकरण का आरम्भ सूत्रधार द्वारा अवश्य होता है।

अश्वघोष की भाषा एवं शैली

नाटकशास्त्र के प्रचलित नियमों के अनुसार इन उपलब्ध रूपकों के विभिन्न पात्र स्वयोग्यतानुसार संस्कृत अथवा प्राकृत का प्रयोग करते हैं। बुद्ध, उनके शिष्य धनंजय एवं नायक संस्कृत का प्रयोग करते हैं जबकि स्त्री-पात्र श्रमनक, विदूषक एवं आजीवक प्राकृत-भाषी हैं। भावमय पात्रों वाले रूपक में भावों का बड़ी कुशलता से स्त्री और पुरुष पात्रों में विभाजन किया गया है।

अश्वघोष ने अपनी कृति में जिस संस्कृत का प्रयोग किया है उसमें कतिपय शब्द तथा मुहावरे प्रचलित भाषा से भिन्न हैं। अर्थ के स्थान पर अर्त्थ का प्रयोग अधिक किया गया है जो चीज ब्रज तथा मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशों की तत्कालीन भाषा से कुछ अभिन्नता द्योतित करती है। छन्द की लय पर विशेष ध्यान रखा है, जिसके कारण व्याकरणानुसार शुद्ध 'कृमि' के स्थान पर 'क्रीमि' का प्रयोग है। प्रद्वेशम के स्थान पर प्रदोषम् का प्रयोग है। उपर्युक्त सभी शब्द पाली के हैं जिनका कि अश्वघोष ने अपनी कृति में यथास्थान समावेश किया है। बुद्ध इसी पाली भाषा में उपदेश दिया करते थे। अश्वघोष जैसे बौद्ध मत के कट्टर अनुयायी पर उसके प्रवर्तक की भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

अश्वघोष की संस्कृत भाषा के विषय में कुछ कहने के उपरांत उसके ग्रंथों में पायी जानेवाली प्राकृत का भी संक्षेप में अवलोकन करना अनुचित न होगा।

रंग-मंच पर अभिनय किये जानेवाले दृश्यों का वर्णन भी वार्तालाप द्वारा न दिखला कर विभिन्न पात्रानुकूल संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं द्वारा दिखाया है। कवि की रचनाओं में तीन प्रकार की प्राकृत का अस्तित्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है जो कि क्रमशः दुष्ट, विदूषक व गोवाम द्वारा प्रयुक्त हुई है।

दुष्ट द्वारा प्रयुक्त प्राकृत व्याकरणकारों की मागधी प्राकृत से समता प्रकट करती है। इसमें संस्कृत 'र' के स्थान में 'ल' हो जाता है। प्रथमा में अकारान्त एकवचन का एकारान्त बहुवचन हो जाता है। न का ण हो जाता है। कालिदास की रचनाओं में पायी जानेवाली भाषा से यह कुछ भिन्न है। संस्कृत के र्ज के स्थान पर य्य न होकर ज्ज होता है। क्षह्क या स्क न हो क्ख होता है। ष्ट अथवा स्थ का रूप स्थ हो जाता है। रामगिरि पर्वत तथा जोगीमारा के समीप गुहा में लिखे हुए अशोक-लेखों की भाषा से यह प्राकृत बहुत मिलती-जुलती है।

नायक व मगधवती की कथावाले रूपक में गोवाम नामक एक काल्पनिक पात्र का भाग है जो अपनी अनुपम प्रकार की प्राकृत का उपयोग करता है। इसमें संस्कृत र के स्थान में ल हो जाता है। व्याकरण के अनुसार यह प्राकृत अर्द्धमागधी भाषा से बहुत मिलती है। इसके समान ही अश्वघोष के गोवाम की भाषा में मूर्धन्य वर्ण दन्त्य वर्ण हो जाते हैं अर्थात् संस्कृत टवर्ग का प्राकृत में उसी क्रमानुसार प्राकृत तवर्ग हो जाता है। न का प्राकृत ण नहीं किया जाता जो कि पश्चाद्वर्ती भाषा में प्रचलित है। अतः विद्वानों ने अश्वघोष की प्राकृत को विकास की प्राथमिक अवस्था का रूप बताया है। 'न' का परिवर्तित न होना पश्चाद्वर्ती मागधी प्राकृत से भिन्न है। इसलिए विद्वानों ने इस भाषा को प्राचीन मागधी का ही रूप माना है। अशोक के शिला-स्तम्भों में पायी जानेवाली भाषा से यह भिन्नता, समता दोनों ही प्रकट करती है। ल, स, ए तथा लम्बे स्वरों का प्रयोग करना दोनों ही भाषाओं में समान है। पायी जानेवाली भिन्नताओं में अकारान्त नपुंसक लिंग शब्दों के प्रथमांत व द्वितीयान्त बहुवचनों के रूप हैं। अशोकीय स्तम्भ-लेखों में संस्कृत के समान ही अनि जोड़कर यह रूप बनाया गया है, जब कि कवि ने प्राकृत में अमि जोड़कर यह प्रक्रिया पूर्ण की है।

अशोक के समय में अर्द्धमागधी राजभाषा थी। जैन मत के उद्धारक महावीर

स्वामी तथा गौतम बुद्ध के समय में यही भाषा जनसाधारण के मध्य में प्रचलित थी, यद्यपि यह निर्णय करना कठिन है कि तत्कालीन प्रचलित भाषा व्याकरण के प्रचलित नियमों के अनुसार मागधी थी अथवा उससे कुछ भिन्न। भरत मुनि ने अनेक प्रकार की प्राकृत भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा प्रयोग करने का विधान किया है। राजपूत, राजकुमार श्रेष्ठी, धनी एवं व्यापारी वर्ग अर्द्ध-मागधी (मागधी ?) बोलते हैं जब कि राजभवन में निरंतर महिलाओं के समीप रहने वाले कर्मचारी, मद्य के दूकानदार खोदनेवाले व तहखाने में रहनेवाले व्यक्ति एवं संकटापन्न नायक के लिए अर्द्धमागधी का विधान है। दशरूपककार धनंजय के मतानुसार अर्द्धमागधी का प्रयोग निम्नकोटि के जन बिना किसी भेद-भाव के कर सकते हैं।

भरत नाट्यशास्त्र के नियमानुसार नायिका शौरसेनी बोलती है। प्राश्य शौरसेनी का ही एक रूप है जिसका कि विदूषक के लिए विधान है। यह शौरसेनी से कुछ भिन्न है। अश्वघोष के रूपकों में इन दोनों प्राकृत भाषाओं में किञ्चिद-मात्र भी अन्तर न दिखाते हुए नायिका मगधवती एवं विदूषक सामान्य रीति से प्रयोग करते हैं। शौरसेनी से भी इसमें समता दृष्टिगोचर होती है। विदूषक द्वारा इस शौरसेनी प्राकृत के प्रमुख प्रयोग इस प्रकार हैं---

संस्कृत क्ष प्राकृत में छ न होकर क्ख हो जाता है, र्द द्द हो जाता है। ज्ञ ण्ण न होकर ञ्ञ हो जाता है। कतिपय संस्कृत शब्द इस प्राकृत में अपना अनूठा रूप धारण कर लेते हैं यथा भर्ता भट्टा, इव विअ, इयम् इयाम हो जाता है। इन विभिन्न प्राकृत भाषाओं में ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से काव्य का रूप निर्धारण करने में अनुपम सहायता मिलती है। द्वितीय शताब्दी ईसवी के नासिक तथा कलिंग के शिलालेखों से यह भाषा पर्याप्त भिन्नता द्योतित करती है, इससे विदित होता है कि इस काल में प्रचलित लोकभाषा निरंतर परिवर्तनशील रही है।

अश्वघोष बौद्ध दर्शन-साहित्य के प्रकाण्ड पंडित थे और पश्चाद्वर्ती बौद्ध साहित्य पर उनका आशातीत प्रभाव पड़ा। दुर्भाग्यवश बौद्ध मत के अन्य नाटक ग्रंथ काल की गति में समाप्त हो गये। हर्षवर्द्धन कृत नागानन्द ही एक मात्र अश्व-

घोष की कृतियों के अतिरिक्त बौद्ध नाटक है जिस पर कि उसकी कृतियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। बौद्धमत संसार में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है और हम आशा करते हैं कि साहित्य की सर्वांगीण उन्नति के साथ अश्वघोष के प्रलुप्त साहित्य के पुनरुद्धार के लिए पूर्ण प्रयत्न किये जायेंगे।

१०. सम्राट् हर्षवर्धन

(राज्यकाल ६०६ से ६४८ ई०)

भारत में हर्षवर्धन स्थाणीश्वर एवं कान्यकुब्ज (आधुनिक कन्नौज) में राज्य करते थे। उनकी कीर्ति तथा काव्य-कौमुदी जगद्विख्यात् है और आज भी विद्वद्-समाज में समुचित आदर प्राप्त कर रही है। उनका राज्यकाल सन् ६०६ से ६४८ ई० तक निर्विवाद ही है जो कि शिला और ताम्रपत्र लेखों की साक्षी से सिद्ध होता है। चीन का प्रसिद्ध यात्री ह्वेनसांग उनके दरबार में आया था और सन् ६३० से ६४५ ई० तक पन्द्रह वर्ष भारत में रहा। उसने हर्षकालीन राज्यव्यवस्था एवं उसके जीवन सम्बन्धी उपकरणों पर सविस्तार प्रकाश डाला है। हर्ष के राज-कवि बाण ने भी हर्षचरित नामक ग्रन्थ में सम्राट् की जीवन सम्बन्धी अनेक घट-नाओं का समावेश किया है। हर्ष एक देदीप्यमान सम्राट् और कुशल शासक होने के साथ ही साथ अद्वितीय साहित्यकार भी थे और उन्होंने स्वरचित नाटक-साहित्य में पर्याप्त काव्यकौशल प्रदर्शित किया है। उनकी तीन रचनाएं उपलब्ध होती हैं। लक्षण के अनुसार उनमें नागानन्द नाटक है तथा प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएं हैं। इस प्रकरण में हम हर्ष की शासन सम्बन्धी व्यवस्था पर प्रकाश न डालते हुए उनकी नाटक-रचना सम्बन्धी प्रतिभा का विवेचन करने तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

रचयिता के सम्बन्ध में मतभेद

इन रूपकों के रचयिता के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि यह संभव प्रतीत नहीं होता कि हर्ष जैसा प्रतिभासम्पन्न सम्राट् अतुलित राज्य-कार्यों में व्यस्त रहता हुआ भी इतने उच्चकोटि के रूपकों

का निर्माण करने में समर्थ हुआ हो। विद्वानों ने इस तीनों ग्रन्थों की भाषा, शैली एवं आकृति की तुलना करके यह प्रमाणित कर दिया है कि ये तीनों ही ग्रंथ एक लेखनी द्वारा प्रसूत हुए हैं। नागानंद तथा प्रियदर्शिका में दो छन्द समान रूप से पाये जाते हैं जिनमें से एक रत्नावली में भी समाविष्ट है। तीनों ही ग्रन्थों की प्रस्तावना में नाट्यशास्त्र के नियमानुसार ग्रन्थकर्ता के रूप में हर्ष के नाम का स्पष्ट निर्देश है। मम्मट ने अपने विख्यात ग्रन्थ काव्यप्रकाश में धन-लाभ को भी काव्य का एक प्रयोजन माना है। उनकी उक्ति "श्रीहर्षादेर्धावकानामिव धनम्" पंक्ति पर विवेचना करते हुए कतिपय आलोचकों का मत है कि धावक ही उक्त रचनाओं के कर्ता होंगे। बाण ने अपने हर्षचरित में अपने आश्रयदाता की काव्य-प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा की है। इत्सिंग ने हर्ष को नागानन्द का रचयिता स्वीकार किया है। जयदेव ने उन्हें कविता-कामिनी का हर्ष एवं सोड्ढल ने गीर्हर्ष की उपाधि से विभूषित किया है।

कीथ का इन नाटक ग्रन्थों के विषय में मत है कि इनमें कहीं भी हर्ष के राज्य में घटित किसी घटना का उल्लेख नहीं है। अतः इनका कर्तृत्व सम्राट् के नाम से सम्बद्ध करना सर्वथा अनुचित है। उसकी धारणा है कि हर्ष के राजकवि बाण ने ही सम्भवतः इन ग्रन्थों की रचना की हो परन्तु जब हम बाण की अमर कृति हर्षचरित और कादम्बरी की शैलियों से इन ग्रन्थों की तुलना करते हैं तो भिन्नता स्पष्ट दिखाई पड़ जाती है। इस आधार पर बाण को इन रूपकों का कर्त्ता मानना सर्वथा निराधार एवं अनुचित ही प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि ये ग्रन्थ सम्राट् ने अपने दरबार के विद्वानों की सहायता से निर्मित किये होंगे अथवा किसी अज्ञात कवि ने इन्हें रचा होगा जिसने अपनी कृति को सम्राट् के नाम से प्रकाशित करने में अपने गौरव एवं यश का साधन समझा होगा। भारत का वर्चस्वी सम्राट् राजकीय शासन का आदर्श उपस्थित करते हुए साहित्य-क्षेत्र में भी अलौकिक चमत्कार दिखला सकता है। भारतवर्ष के महीपतियों की विलास-प्रियता पर दृष्टिपात करते हुए केवल कोरी कल्पना के आधार पर इस सत्य का पश्चिमीय विद्वानों द्वारा अस्वीकार किया जाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।

हर्ष के तीन नाटक ग्रन्थ पाये गये हैं जिनमें रत्नावली चार अंकों की नाटिका है और लोक-कथाओं के आधार पर लिखी गयी है। नागानन्द इन दोनों से सर्वथा भिन्न है जिसका कथानक बौद्ध जातकों के आधार पर निर्मित किया गया है। शैली एवं विषय पर दृष्टिपात करते हुए इन ग्रन्थों का क्रम प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द, इस प्रकार है। इन ग्रंथों के कथानक का संक्षेप से निम्नलिखित वर्णन किया जाता है—

प्रियदर्शिका

चार अंकों की इस नाटिका पर महाकवि कालिदास की प्रसिद्ध कृति मालविकाग्निमित्र का पर्याप्त प्रभाव विदित होता है। इसमें वत्स के सम्राट् उदयन और महाराज दृढ़वर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका की प्रणय-कथा का रोचक वर्णन किया गया है। प्रथम अंक में विनयवसु और दृढ़वर्मा का प्रवेश होता है। राजा दृढ़वर्मा के राज्य में सहसा कलिंग का अधिपति विद्रोह कर देता है। इस प्रकार दोनों ही पक्ष भीषण विपत्ति में पड़ जाते हैं तथा उनका परस्पर संग्राम उग्र रूप धारण कर लेता है। रण में भयभीत होकर राजकुमारी प्रियदर्शिका संयोगवश वत्सराज उदयन के प्रासाद में पहुंच जाती है और महारानी वासवदत्ता का शरणागत के रूप में दासत्व स्वीकार कर लेती है तथा अपना नाम आरण्यका घोषित करती है।

द्वितीय अंक में उदयन और आरण्यका का परस्पर साक्षात्कार सहसा ही हो जाता है और वे दोनों सामान्य रीति से एक दूसरे पर अनुरक्त भी हो जाते हैं। महाराज अपनी इस मनोव्यथा को अपने अभिन्न मित्र विदूषक से प्रकट भी कर देते हैं। इसके बाद महाराज एक सुमनोहर पुष्पों से युक्त उद्यान में भ्रमण करते हुए दिखाये गये हैं। कुछ देर के उपरान्त एक सखी के साथ पुष्प-चयन हेतु आरण्यका का प्रवेश होता है। एक मधुमक्खी उसे सताती है। इस अवसर पर सखी उन दोनों प्रेमी-प्रेमिकाओं को एकाकी छोड़कर चली जाती है और इस प्रकार दोनों को देर तक परस्पर मिलने एवं सम्भाषण करने का पर्याप्त अवसर मिलता है।

तृतीय अंक में राजदरबार में लोक के मनोरंजनार्थ उदयन एवं वासवदत्ता

के विवाह का अभिनय किया जाता है। नाटक में वत्सराज स्वयम् अपना भाग लेते हैं परन्तु वासवदत्ता का भाग आरण्यका द्वारा अभिनीत किया जाता है। यह नाटक का पात्र-विभाजन केवल अभिनय की दृष्टि से दर्शकों का मनोरंजन मात्र न रहकर वास्तविक हो जाता है तथा उन दोनों का प्रेम प्रत्यक्ष होकर सर्वविदित हो जाता है। यह दृश्य देखकर वासवदत्ता के हाथों से तोते उड़ जाते हैं और उसका महाविकराल क्रोधानल उद्दीप्त हो जाता है।

चतुर्थ अंक में ईर्ष्या के वशीभूत हो वासवदत्ता के आदेशानुसार आरण्यका बंदी बनाकर कारावास में भेज दी जाती है। इस अवसर पर आरण्यका के पिता महाराज दृढ़वर्मा द्वारा वत्सराज की सहायता से कलिंग नरेश के परास्त किये जाने का शुभ समाचार मिलता है। वासवदत्ता की दासी आरण्यका के विषय में भी सत्यता प्रकट होती है कि वह राजकुमारी प्रियदर्शिका से भिन्न नहीं है। वासवदत्ता अपने कृत्य पर पाश्चात्ताप करती है। राजकुमारी प्रियदर्शिका और उदयन का परिणय इसी अवसर पर समारोह-पूर्वक सम्पन्न होता है।

रत्नावली

चार अंकों की इस नाटिका में महाराज उदयन और सिंहल देश की राजकुमारी रत्नावली की प्रेमकथा का वर्णन है। उदयन के मंत्री यौगन्धरायण का ज्योतिषियों की वाणी के आधार पर यह विश्वास था कि राज्य की समृद्धि के लिए राजकुमारी रत्नावली का उदयन के साथ परिणय होना आवश्यक है। वासवदत्ता की विद्यमानता में यह कार्य अत्यन्त कठिन समझ यह मिथ्या वृत्तांत प्रकाशित कर दिया गया कि वासवदत्ता का अग्नि से जलने के कारण प्राणान्त हो गया है। सिंहल-नरेश यह समाचार अवगत कर अपनी पुत्री रत्नावली को मंत्री वसुमति और कंचुकी के साथ वत्स-नरेश उदयन के समीप प्रणयार्थ प्रेषित करते हैं। समुद्र में जहाज के टूट जाने के कारण एक भीषण दुर्घटना हो जाती है तथा कौशाम्बी नामक एक व्यापारी की सहायता से राजकुमारी की रक्षा की जाती है। एक आपत्तिग्रस्त अबला के रूप में रत्नावली वासवदत्ता की शरण में आश्रय प्राप्त करती है तथा परिस्थितिवश सागरिका के नाम से उनके यहां परिचारिका का कार्य स्वीकार

करती है। उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर वासवदत्ता उस महाराज से सर्वथा पृथक् ही रखने का निश्चय करती है। एक बार वसन्त ऋतु के सुहावने अवसर पर वासवदत्ता अपने पति वत्सराज के साथ मदन महोत्सव मनाने को उद्यत होती है। संयोगवश सागरिका वहां पहुंच जाती है और उसका महाराज से प्रथम साक्षात्कार होता है। सागरिका उदयन को कामदेव की प्रत्यक्ष मूर्ति समझती है। संध्या हो जाने के कारण उन दोनों के मिलन का अधिक अवसर नहीं मिल पाता।

द्वितीय अंक में सागरिका का अपनी सखी सुसंगता के साथ ही प्रवेश होता है। सागरिका अपनी सखी से उदयन के प्रति अपनी प्रेमविषयक मनःकामना व्यक्त करती है। दोनों सखियां स्वच्छन्दतापूर्वक संलाप कर ही रही थीं कि अकस्मात् सागरिका के संरक्षण में राजदरबार का एक बन्दर कपिशाला से मुक्त हो जाता है और भाग जाता है। उसके भागने में पिंजड़ा भी टूट जाता है और इस प्रकार उसमें बन्द तोता भी उड़ जाता है। यह कोलाहल सुनकर राजा और विदूषक दोनों ही घटनास्थल पर उपस्थित होते हैं। सुसंगता इसे सुअवसर समझ कर तत्काल ही उन दोनो प्रेमियों के स्वच्छन्दतापूर्वक मिलन की व्यवस्था कर देती है। उनको परस्पर समय बिताते अधिक देर नहीं हो पाती कि अकस्मात् वासवदत्ता आ पहुंचती है और अपना उग्र कोप प्रकट किये बिना ही प्रस्थान कर देती है।

तृतीय अंक में विदूषक दोनों प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलनहेतु एक रोचक षड्यन्त्र रचता है, वह यह कि सागरिका वासवदत्ता के तथा सुसंगिता सागरिका के वस्त्र धारण कर महाराज से मिले। यह षड्यन्त्र वासवदत्ता सुन लेती है और सतर्क रहती है। अपने को छोड़ कर अन्य कामिनी पर पति की अभिलाषा जान कर क्रुद्ध भी होती है। कुछ देर के उपरान्त सागरिका का प्रवेश होता है। उदयन उसे सहसा देखकर वासवदत्ता समझता है और कुछ क्षणों के लिए भयभीत सा हो जाता है परन्तु जब उसे इस त्रुटि का बोध होता है तो दोनों को ही एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। पति को प्रसन्न करने के हेतु वासवदत्ता का इस अवसर पर प्रवेश होता है परन्तु उन दोनों प्रेमी-प्रेमिकाओं को देखकर उसके क्रोध का पारावार नहीं रहता।

चतुर्थ अंक में वासवदत्ता का क्रोध अपना विकरालतम रूप धारण कर लेता

है जिसके वशीभूत हो वह सागरिका को कारावास का दंड देती है और राजा की प्रेमिका तक को साधारण वन्दियों की भांति वंदीगृह की यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। इतने में एक शुभ सूचना प्राप्त होती है कि मंत्री रूमणवान् ने कौशल नरेश का वध करके विजय प्राप्त कर ली है। इसी समय एक इन्द्रजालिक या जादूगर का प्रवेश होता है जिसे राजदरबार में अपने चमत्कारों को दिखाने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया जाता है। समुद्र की दुर्घटना से बच कर वसुभूति आदि मंत्रियों के आगमन से उस इन्द्रजालिक की क्रियाओं में विघ्न पड़ता है। इस समय सागरिका उसके अन्दर ही विद्यमान है। भयभीत होकर वासवदत्ता इसकी सूचना उदयन को देती है और वह उसकी ओर भागता है। उसके ऐसा करते ही अग्नि समाप्त हो जाती है और यह विदित होता है कि यह ऐन्द्रजालिक चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी अवसर पर वसुभूति का सागरिका से साक्षात्कार होता है और वह उसे सिंहल नरेश की राजकुमारी रत्नावली घोषित करता है। यौगन्धरायण का प्रवेश होता है और वह षड्यन्त्र का महत्त्व बताता है। वासवदत्ता प्रसन्नतापूर्वक रत्नावली को भी अपनी सपत्नी स्वीकार करती है और उन तीनों का शेष जीवन प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत होता है।

नागानंद

प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाओं से भिन्न नागानंद पांच अंकों का एक नाटक है और उसका कथानक भी दोनों से भिन्न है। यह बेतालपंचविंशति और बृहत्कथा में पायी जानेवाली एक बौद्ध कथा के आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में विद्याधर कुमार जीमूतवाहन और सिद्ध कन्या मलयवती की प्रेमकथा का रोचक वर्णन समाविष्ट है। उत्तरार्द्ध में जीमूतवाहन द्वारा गरुड़ के सर्प-भक्षण-त्याग की रोचक ढंग से शिक्षा दी गयी है।

प्रथम अंक में विद्याधर कुमार जीमूतवाहन और सिद्धकुमार मित्रवसु में मित्रता होती है। मित्रवसु की भगिनी का नाम मलयवती है। एक रात्रि को सोते समय मलयवती स्वप्न देखती है जिसमें गौरी जीमूतवाहन को ही उसका भावी पति घोषित करती है। रात्रि के स्वप्न का हाल अपनी सखी को बताते

समय मलयवती की गुप्त वार्ता को जीमूतवाहन एक समीपवर्ती झाड़ी में छिपा हुआ सुन लेता है और सहसा उसके प्रति आसक्त हो जाता है। विदूषक उनके मिलन की व्यवस्था करता है। परन्तु अकस्मात् ही एक संन्यासी के आ जाने से उनकी वार्ता अवरुद्ध हो जाती है।

द्वितीय अंक में मलयवती कामाकुल दशा में चित्रित की गयी है। इधर जीमूत-वाहन की दशा उससे भी अधिक चिन्तनीय है। मित्रवसु का आगमन होता है और उसे अपनी बहिन मलयवती की मानसिक व्यथा का बोध होता है। मित्रवसु बहिन का विवाह अन्य किसी राजा के साथ करना चाहता है परन्तु वह ऐसा करने को प्रस्तुत नहीं है। यह सूचना पाकर वह प्राणान्त करने का निश्चय करती है परन्तु सखियों द्वारा ऐसा नृशंस कृत्य करने से रोक दी जाती है। जीमूतवाहन का प्रवेश होता है और वह अपनी प्रेमिका से मिलता है। इसी समय मित्रवसु को यह विदित होता है कि उसकी बहिन का प्रेमी उसका अभिन्न मित्र जीमूतवाहन ही है। यह जानकर वह प्रसन्नतापूर्वक उन दोनों का विवाह सम्पन्न कर देता है।

तृतीय और चतुर्थ अंक में नाटक का कथानक परिवर्तित होता है। जीमूत-वाहन और मित्रवसु एक दिन साथ-साथ भ्रमण करने को निकलते हैं और मार्ग में सहसा ही तत्काल वध किये हुए सर्पों की हड्डियों का ढेर देखते हैं। एक दिव्य पक्षी गरुड़ को नित्य सर्पों की भेंट चढ़ायी जाती है और उन्हीं की हड्डियों का यह ढेर है। यह वृत्तांत अवगत कर जीमूतवाहन को बहुत दुःख होता है। वह मित्र-वसु को एकाकी छोड़कर बलिदान के स्थान पर पहुंचता है। उस दिन शंखचूड की बारी है। अतः उसकी माता अतिशय करुण क्रन्दन करती हुई विलाप कर रही है। जीमूतवाहन निश्चय करता है कि मैं स्वयं अपने प्राणों का बलिदान करके भी इस हत्याकांड को रोकूंगा।

पंचम अंक में जीमूतवाहन मन्दिर में प्रवेश करने के उपरान्त बाहर आता है और पूर्व निश्चयानुसार बलिदान के स्थान पर पहुंच जाता है। उसके माता-पिता और पत्नी मलयवती यह निश्चय ज्ञात कर उद्विग्न हो जाते हैं। वह बलिदान के स्थान पर पहुंचता है और अपने प्राण गरुड़ की भेंट कर देता है। गौरी और जीमूत-

वाहन विलाप करते हुए माता-पिता को देखते हैं। वह अपने तपोबल के प्रभाव से उसे पुनः जीवित कर देती हैं। अन्य सर्प भी इस प्रकार पुनर्जीवित हो जाते हैं। इस अवसर पर महात्मा गौतम बुद्ध के आदेशानुसार गरुड़ भविष्य में किसी सर्प का वध न कर अहिंसात्मक जीवन व्यतीत करने का प्रण करता है और इस प्रकार ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

रचनाकौशल

प्रियदर्शिका सम्राट् की प्रथम कृति है। रत्नावली यद्यपि उनकी अंतिम कृति नहीं है, उसमें उनके नाटक-रचना-कौशल का पूर्ण परिपाक मिलता है। प्रियदर्शिका और रत्नावली दोनों ही नाटिकाओं के नायक वत्सराज उदयन हैं जो कि दशरूपककार धनंजय के मतानुसार धीरललित हैं। दोनों ही ग्रंथों में शृंगाररस प्रधान है और नायक व नायिका क्रमशः महाराज उदयन और वासवदत्ता हैं। इनके समावेश करने से पता चलता है कि प्राचीन महाकवि भास की रचनाओं का सम्राट् पर विशेष प्रभाव पड़ा था। भास ने वासवदत्ता का प्रेम केवल पति के हित में ही खींचा है। वह अनेकों विपत्तियां सहन करके भी पति को समृद्धशाली बनाती है, जब कि हर्ष की वासवदत्ता स्वार्थ और लोभ की जाग्रत मूर्ति है। वह अपने पति का किसी अन्य कामिनी पर दृष्टिपात तक करना अपना घोर अनादर एवं अपमान समझती है। दोनों ही नाटिकाओं में नायिका डाह एवं ईर्ष्या का प्रत्यक्ष उदाहरण है। कन्याओं के विवाह उस समय पिता द्वारा ही निश्चित कर दिये जाते थे। ऐसा इन नाटिकाओं के अध्ययन से पता चलता है। महाराज दृढ़वर्मा के आज्ञानुसार प्रियदर्शिका का और सिंहल-नरेश के निश्चयानुसार रत्नावली का परिणय दोनों ही ग्रंथों में उदयन के साथ सम्पन्न होता है। इससे विदित होता है कि उस काल में विवाह के निश्चय करने में माता-पिता का विशेष भाग रहता था।

दोनों ही नाटिकाओं में शृंगाररस की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना के रूप में रत्नावली में इस रस के उदाहरण उल्लेखनीय हैं, यथा

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः
क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।

व्यस्तः कम्पानुबन्धावनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
क्रीडन्त्या पीडयैव स्तनभरविनमन्मध्यमङ्गानपेक्षम् ॥
—रत्ना० १।१६

यह श्लोक प्रथम अंक में मदन महोत्सव के अवसर पर महाराज वत्सराज द्वारा स्त्रियों की क्रीड़ा का वर्णन करते हुए विदूषक के प्रति कहा गया है। क्रीड़ा करते समय कामिनी के खुले हुए केश-कलापों में पुष्पों की माला केशो से भी अधिक सुशोभित है। वसन्त ऋतु के इस महोत्सव में मधुर रस पान से मस्त स्त्री के चरणों में सुशोभित पायजेबें दूनी झंकार कर मन को प्रफुल्ल कर रही हैं। नृत्य में रत इस दूसरी युवती के गले का हार सतत कांपने के कारण वक्षस्थल पर लगता रहता है। यह भार मानों स्तनों के भार से झुके हुए कटि भाग की अपेक्षा न करनेवाले वक्षस्थल के लिए दंड-रूप है।

एक और उदाहरण देखिए—

"परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत...
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमलमनुप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति नलिनीपत्रशयनम् ॥"
—रत्ना० २।११

द्वितीय अंक में कमलपत्र के बिछौने पर लेटी हुई सागरिका को देखकर विदूषक की सम्मति, कि यह कामातुर है, की पुष्टि करते हुए उदयन का कथन है कि हे विदूषक! ऊंचे स्तनों व जंघाओं की रगड़ से दोनों ओर कुम्हलायी हुई और पतली कमर के मध्य भाग में नहीं छू जाने से हरी, विरह के संताप के कारण शिथिल, लतारूपी भुजाओं के फेंकने से चारों ओर उलटी-पुलटी यह कमलिनी के पत्तों की शैया कोमलांगी सागरिका की मानसिक व्यथा को सहज रूप से ही व्यक्त करती है।

इन दोनों ही श्लोकों में वत्सराज उदयन ने अपनी दोनों प्रेमिकाओं का कितना

मार्मिक शृंगारिक चित्रण किया है। वसन्त के अवसर पर मदन महोत्सव मनाया जा रहा है। उस समय कामिनी की चाल और अंगों की छबि दर्शनीय है। सागरिका की मनोव्यथा को पहिचानने में भी कवि शृंगार रस में अपनी आश्चर्यजनक प्रवीणता प्रकट करता है।

प्रकृति की अपूर्व छटा का वर्णन करने में सम्राट् कुशल हैं। एक रमणीय उद्यान में विदूषक के साथ भ्रमण करते हुए महाराज उदयन बकुल वृक्ष की मनोहर छवि का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"मूले गण्डूषसेकासव इव बकुलैर्वास्यते पुष्पवृष्ट्या
मध्वाताम्रे तरुण्या मुखशशिनि चिराच्चम्पकान्यद्य भान्ति।
आकर्ण्याशोकपादाहतिषु रसता निर्भरं नूपुराणां...
झंकारस्यानुगीतेरनुकरणमिवारम्यते भृंगसार्थैः॥"—रत्ना० १।१८

सुमनोहर बकुलवृक्ष की जड़ में जो पुष्पों की मनोहर वृष्टि हो रही है जो रमणियों के मध्य के कुल्ले के समान सुशोभित है वह तरुणी के मुखचन्द्र के समान चम्पा के पुष्प की सी शोभा प्रदान कर रही है। भ्रमरों के झुंड अशोक के तरुओं के पदाघात से अत्यन्त शब्दायमान पायजेबों का शब्द सुन कर मानों झंकारने की सुमनोहर ध्वनि की नकल कर रहे हैं।

वृक्ष के वर्णन में कवि ने एक विशेष प्रयोजन सिद्ध किया है। प्रकृति के विभिन्न पदार्थों की कामिनी के अंगों से तुलना करके प्रकृति की स्वतः भूत अनुभव छबि में रोचक शृंगारिकता प्रदान की गयी है।

युद्ध के भयावह वर्णन में भी कवि ने अपनी विशेष कुशलता का प्रदर्शन किया है। कौशल-विजय के अनन्तर विजयवर्मा राजा को युद्ध का वृत्तांत सुनाता हुआ कहता है —

"अस्तव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणे कृत्तोत्तमांगेक्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वमद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोशलपतिर्भग्ने प्रधाने बले...
एकेनैव रूमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः॥"—रत्ना० ४।६

रूमणवान् द्वारा युद्ध में कौशल देश की सेना को चारों ओर से घेरने के उपरान्त शस्त्रों के प्रहार एवं कवचों के आघात से कटाकट शिर कटने लगे। अतः उस स्थान पर प्रबल वेग से रक्तरंजित लाल लाल सरिताएँ प्रवाहित होने लगीं और उसमें बहुत ही शीघ्र, शस्त्र शब्दायमान होने लगे एवं कवचों से अग्नि प्रज्वलित होने लगी। इस प्रकार की परम भीषणता से युक्त संग्राम के आरंभ होते ही उस कौशलाधिपति की प्रधान सेना मारी गयी।

इस श्लोक में हर्ष की लेखनी की अलौकिक वर्णन करने की शक्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। युद्ध-वर्णन में प्रवीणता दिखाने के अतिरिक्त उन्होंने प्रकृति के अनुपम दृश्य यथा वन, मलयाचल, प्रातः, संध्या, आश्रम, उद्यान, नदी, पर्वत, अग्नि इत्यादि प्राकृतिक उपकरणों का मनोरम स्वाभाविक वर्णन पाठकों के समक्ष निरूपित किया है। चतुर्थ अंक में इन्द्रजालिक द्वारा सागरिका को दग्ध होते हुए देखकर उदयन कहते हैं—

"विरम विरम ! वह्ने मुञ्च धूमानुबन्धम्
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्।
विरह हुतभुजाहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि।।"—रत्ना० ४।१६

हे अग्नि ! तुम बुझ जाओ और धुएं का निकालना त्याग दो। तुम किस कारण ज्वालाओं के समूह को प्रकट कर रहे हो। तुम्हारे इस कार्य से मुझे तनिक भी हानि होने की संभावना नहीं है। जब मुझे प्रिय सागरिका के विरह की अग्नि दग्ध करने में समर्थ न हो सकी तो प्रलय के समान प्रचण्ड तेज तुम मेरा क्या कर सकते हो। अर्थात् इस विषय में तुम बिल्कुल सामर्थ्यहीन हो और कुछ नहीं कर सकते।

अग्नि के संबोधन में उदयन की यह उक्ति उसके प्राकृतिक वर्णन के साथ-साथ उनकी मानसिक व्यथा का भी स्पष्ट निरूपण करती हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि नागानंद दोनों ही नाटिकाओं से भिन्न एक बौद्ध आख्यान के आधार पर रचा हुआ नाटक है। प्रथम दो अंकों में जीमूत-

वाहन और मलयवती की प्रणय-कथा का समावेश होने से कथानक बहुत भिन्न नहीं कहा जा सकता। अन्तिम तीन अंकों में जीमूतवाहन की प्रेरणा द्वारा गरुड़ के सर्प-भक्षण-त्याग की कथा का वर्णन है। यद्यपि एक प्रणय-कथा का नाटक में समावेश है पर उसका स्थान गौण ही है। बौद्ध आख्यान व जीमूतवाहन का आत्म-त्याग ही ग्रन्थ का प्रधान विषय है। इसमें हर्ष ने दया, दान, धर्म, आत्मत्याग आदि भावों का यथावत् निरूपण किया है। नाटकीय दृष्टि से कवि को इस ग्रन्थ की रचना में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। दोनों नाटिकाओं के समान ही इसमें मनोहर और प्रसादपूर्ण भाषा का समावेश है। प्रथम दो अंकों में प्रणय-प्रसंग में श्रृंगार रस का यथावत् निरूपण हुआ है। उसके साथ-साथ कतिपय स्थानों पर करुण रस की सुन्दर व्यञ्जना की गयी है। जीमूतवाहन की मृत्यु के अवसर पर उसके वृद्ध पिता करुणाजनक विलाप करते हुए कहते हैं—

"निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह? विरता दानपरता।
हतं सत्यं नूनं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तर गते॥"—नागा० ५।३१

हे पुत्र! तुम्हारे स्वर्गवासी होने पर धैर्य बिना आधार का हो गया है। विनय अब किसकी शरण ग्रहण करे? क्षमा को अब कौन धारण करेगा? दानशीलता उठ गयी। वह सत्य भी चल बसा। निःसहाय करुणा अब किस स्थान का आश्रय ग्रहण करे? तुम्हारे बिना तो समस्त संसार सूना हो गया।

मौलिकता की दृष्टि से इन कथानकों पर विचार करने से विदित होता है कि हर्ष पर कालिदास की नाट्यकला का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कवि ने अपनी रचनाओं को ऐसा रूप दिया है कि वे मौलिक ही प्रतीत होती हैं। रत्नावली में तोते और बन्दर के छूट जाने वाली घटना पर मालविकाग्निमित्र का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। हर्ष ने अपने ग्रन्थों में इतने विविध प्रकार के नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन किया है कि दशरूपककार धनंजय ने अपने अमर ग्रन्थ दशरूपक में साधारणतः हर्ष की समस्त रचनाओं से एवं मुख्यतः रत्नावली से अनेकों श्लोक उदाहरणरूप में उद्धृत किये हैं।

११. महाकवि भवभूति

(सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध)

संस्कृत रूपक साहित्य में महाकवि कालिदास के पश्चात् महाकवि भवभूति ही एक अमर नाटककार हैं। उनके रचना-काल के सम्बन्ध में नाना प्रकार के निश्चित प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। राजशेखर ने (सन् ९०० ई०) अपने आप को भवभूति का अवतार बताया है। वामन (८०० ई०) ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्र वृत्ति में भवभूति-कृत उत्तर रामचरित का एक श्लोक उद्धृत किया है जिससे विदित होता है कि वह वामन के समय के पूर्व अवश्य विद्यमान थे। हर्ष के राजकवि बाण ने अपनी रचना हर्षचरित में कालिदास, भास, आदि साहित्यकारों का उल्लेख किया है परन्तु भवभूति की काव्य-कौमुदी के विषय में लेश मात्र भी उल्लेख नहीं किया। अतः प्रतीत होता है कि उनके समय तक भवभूति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। कल्हण ने राजतरंगिणी में भवभूति को यशोवर्मा का राजकवि बताया है। उनके कथनानुसार कश्मीर-नरेश ललितादित्य ने यशोवर्मा को परास्त किया था। डाक्टर स्टीन के मतानुसार यह घटना सन् ७३६ ई० के पूर्व की नहीं जान पड़ती। जनरल कनिंघम के मतानुसार ललितादित्य का राज्य-काल सन् ६९३ से ७२९ ई० तक है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि भवभूति का स्थिति-काल सन ७०० ई० के समीपवर्ती ही है। भवभूति के ग्रन्थों में उनके जीवन सम्बन्धी कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। परन्तु वह बहुत ही अपूर्ण दशा में हमें प्राप्त हुई है। उसके अनुसार वे विदर्भ प्रान्तान्तर्गत पद्मपुर नगर के निवासी थे। उनका जन्म कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा को माननेवाले सोमयज्ञ से पवित्र प्रसिद्ध उदुम्बर वंशीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पितामह का नाम भट्ट गोपाल, पिता का नाम नीलकंठ तथा माता का नाम जातुकर्णी था। वह प्रारंभिक काल में श्रीकंठ

नाम से विख्यात थे। नाट्य-प्रतिभा प्रदर्शित करने के उपरान्त ही उनका उपनाम भवभूति पड़ा।

उन्होंने तीन नाटक-ग्रन्थों की रचना की है जो आज भी विद्वत् समाज में समुचित आदर प्राप्त कर रहे हैं। उनका नाम रचना-क्रम के अनुसार महावीर-चरित, मालती-माधव और उत्तर-रामचरित है। इन नाटकों की प्रस्तावना के अवलोकन करने पर विदित होता है कि यह नाटक सर्वप्रथम महाराज काल-प्रियनाथ के राज दरबार उज्जयिनी में अभिनीत किये गये थे। उनका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है—

महावीर-चरित

इसमें सात अंक हैं और रामायण के पूर्वार्द्ध की कथा रामविवाह से राज्याभिषेक पर्यन्त वर्णित है। आरंभ से अन्त तक रावण राम के विनाश के लिए अनेक प्रकार के कुचक्रों का सर्जन करता है। शिव-धनुष भंग होने के उपरान्त रावण परशुराम को राम के विरुद्ध उकसाता है और शूर्पणखा को मंथरा और स्वयं अपने रूप में राम को विघ्न पहुंचाता है तथा इसके कारण ही राम बालि से युद्ध भी करते हैं। रावण के विनाश के उपरान्त राम सीता सहित अयोध्या पधारते हैं और समारोहपूर्वक उनका राज्याभिषेक सम्पन्न होता है।

महावीर-चरित पर भास के अभिषेक नाटक व बालचरित का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। भवभूति का प्राचीन नाटक कला के प्रमुख आचार्य भास के ग्रन्थों से कथानक लेना उनके प्रति समुचित समादर प्रदर्शित करना है। इस प्रकार कवि ने रामायण की प्राचीन लोकविख्यात कथा को नाटकीय रूप प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास किया है किन्तु प्रथम रचना होने के कारण इसमें नाटक-कला का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया है। दीर्घ वर्णनात्मक प्रसंगों के कारण इस नाटक में घटनाओं की गति में विरोध दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि उनके अन्य दो रूपकों में मानव-हृदय का सूक्ष्म निरीक्षण और भाव तथा भाषा का सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है, वैसा इस नाटक में नहीं हुआ है। उन्होंने अपने आलोचकों के प्रति बहुत कठोर शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे

प्रतीत होता है कि उनके जीवन-काल में इस ग्रन्थ का विद्वानों द्वारा समुचित सत्कार नहीं हो पाया।

मालती-माधव

यह दश अंकों का एक प्रकरण है। इसमें मालती और माधव की प्रणय-कथा का सविस्तार वर्णन किया गया है। पद्मावती नरेश के मंत्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का विवाह अपने बाल्यकाल के अभिन्न मित्र देवरात के पुत्र माधव के साथ करने के इच्छुक हैं। इधर राजा का साला नर्मसुहृद या नन्दन भी इस प्रेम में प्रतिद्वंद्वी है और उसको पूर्ण राजकीय सहायता प्राप्त है। इस प्रणय-प्रसंग में माधव का मित्र मकरन्द है और मालती की सखी नन्दन की भगिनी मदयन्तिका है। एक दिन मालती और माधव परस्पर एक शिव-मंदिर में मिलते हैं जहां पर मकरन्द मदयन्तिका की एक बाघ से रक्षा करता है और इसी घटना के कारण वे दोनों एक दूसरे पर अनुरक्त हो जाते हैं। राजा नंदन और मालती के विवाह के लिए पूर्ण प्रयत्नशील हैं। अतः इसे सफल करने के लिए माधव श्मशान में जाकर तंत्र की आराधना करता है। उसी समय अघोरघंट मालती को बलि चढ़ाने के लिए उस स्थान पर आता है जहां पर माधव उसका वध कर मालती की रक्षा करता है और दोनों भाग जाते हैं। राजा के समीप मकरन्द मालती का स्थान ले नन्दन से विवाह करने को प्रस्तुत होता है और नन्दन को दुत्कार देता है। इस प्रकार अवसर पाकर मदयन्तिका मकरन्द के समीप आकर उसके साथ चली जाती है। इस भगदड़ में कपालकुंडला मालती को चुरा लेती है और सौदामिनी की सहायता से माधव उसको ढूंढने में समर्थ हो जाता है। इसके उपरान्त राजा की अनुमति से माधव और मालती का परस्पर विवाह हो जाता है और उनका शेष जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है। इस प्रकरण पर महाकवि भास के अविमारक नामक नाटक का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जिसमें महाराज कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी और अविमारक नामक राजकुमार की प्रणय-कथा का वर्णन किया गया है। इसका कथानक रोचक है। इसमें कवि की कल्पनाशक्ति के चमत्कार का अपेक्षाकृत विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है क्योंकि अन्य दो नाटकों का कथानक रामायण के आधार पर अवलम्बित है।

महावीर-चरित की अपेक्षा इसमें कवि की प्रतिभा का अधिक रोचक रूप प्रस्तुत किया गया है।

उत्तर-रामचरित

यह नाटक महाकवि भवभूति की अन्तिम तथा सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह महावीर-चरित का उत्तरार्द्ध है जिसमें राम के राज्याभिषेक के अनंतर उनके अवशिष्ट जीवन का वर्णन है। यह सात अंकों का एक नाटक है जिसका कथानक इस प्रकार है—

प्रथम अंक में राम के राज्याभिषेक के उपरान्त जब जनक लौट जाते हैं तब उनकी पुत्री सीता उद्विग्न हो जाती है। राम उन्हें सान्त्वना देने एवं उनका मनोविनोद करने के लिए अपने पूर्व जीवन के चित्र दिखलाते हैं। सीता गंगा-स्नान करने की इच्छा प्रकट करती हैं तथा विश्राम पाकर सो जाती हैं। दुर्मुख नामक गुप्तचर सीता के विषय में प्रचलित लोकापवाद के विषय में राम को सूचित करता है। असह्य वेदना होने पर भी वह कर्त्तव्यपालन के वशीभूत हो पत्नी का परित्याग करने को भी उद्यत हो जाते हैं। गंगा-स्नान की इच्छा-पूर्ति के बहाने वह वन में निर्वासित कर दी जाती हैं।

द्वितीय अंक में बारह वर्ष के उपरान्त की घटना का समावेश हुआ है। आत्रेयी और वासन्ती राम के अश्वमेध यज्ञ के विषय में वार्तालाप करती हैं और कहती हैं कि इस अवसर पर महर्षि वाल्मीकि दो कुशाग्र बुद्धिवाले बालकों का लालन-पालन कर रहे हैं। राम द्वारा शूद्र तपस्वी शम्बूक का भी वध इसी अंक में होता है।

तृतीय अंक में तमसा और मुरला नामक नदियाँ सीता के निर्वासन के उपरान्त उनके भविष्य के विषय में वार्तालाप करती हैं। उनके वार्तालाप के अनुसार सीता अत्यन्त दुखी हो अपने जीवन का अन्त करने के लिए गंगा में कूद पड़ती हैं जहां कि जल में ही लव और कुश का जन्म होता है। गंगा ने दोनों पुत्रों सहित सीता को वाल्मीकि के संरक्षण में सौंप दिया। कुछ कालोपरान्त राम भी वन-गमन करते हैं और अपने पुरातन क्रीड़ास्थलों का अवलोकन कर एवं सीता का स्मरण कर मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता छायारूप में प्रकट होती हैं और अपने स्पर्श द्वारा राम को सचेत

कर देती हैं। इस समय सीता की विरह-वेदना राम को अत्यधिक व्याकुल कर देती है। राम के करुण क्रंदन के कारण ही यह अंक करुणरस की प्रतिमूर्ति हो गया है।

चतुर्थ अंक में कौशल्या और जनक का स्नेहसिक्त वार्तालाप होता है जिसमें वे परस्पर सान्त्वना प्रदान करते हैं। वाल्मीकि आश्रम के निरीह एवं चपल बालक क्रीड़ा करते हुए संयोगवश उनके समीप पहुंच जाते हैं जिनमें लव विशेष रूप से कान्तिमान है। वह राम के अश्वमेध के घोड़े को बलपूर्वक पकड़ लेता है।

पंचम अंक में यज्ञीय अश्व के रक्षक लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु और लव का दर्पयुक्त कथनोपकथन होता है। साथ ही साथ दोनों ही एक अलौकिक आनन्द एवं अनुराग का अनुभव करते हैं।

षष्ठांक में एक विद्याधर अपनी पत्नी से लव और चन्द्रकेतु के संग्राम का वर्णन करता है। कुछ समयोपरान्त महाराज रामचन्द्र जी का भी रणक्षेत्र में आगमन होता है और अपने पुत्रों को न पहिचानते हुए वे दिव्य वात्सल्यरस का आस्वादन करते हैं।

सप्तम अंक में राम के दरबार में एक दिव्य नाटक का अभिनय होता है जिसमें सीता प्राणान्त करने के हेतु गंगा में कूद पड़ती हैं। तदुपरान्त गंगा एक शिशु को गोद में लेकर सीता सहित जल के बाहर दर्शित होती हैं। धरा राम की कठोरता की निन्दा करती हैं जिसका कि गंगा उचित कारण भी बताती हैं। वे दोनों सीता को वाल्मीकि के संरक्षण में बालकों का उचित लालन-पालन करने का आदेश देती हैं। राम इस दृश्य को देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं। तत्क्षण अरुन्धती सीता को लेकर प्रकट होती हैं। सीता उचित परिचर्या द्वारा राम को सचेत करती हैं। तभी वाल्मीकि मुनि का आगमन होता है और वे पुत्रों सहित सीता को राम की भेंट कर देते हैं। तदुपरान्त सभी का जीवन सुखपूर्वक यापित होता है।

भवभूति ने अपना नाटक-रचना-कौशल दिखलाने के लिए रामायण की मूल कथा में अनेक परिवर्तन किये हैं जिससे उनकी प्रतिभा की प्रखरता का आभास होता है। उन्होंने मूल कथा में निम्नलिखित परिवर्तन किये और अपनी कृति को अधिक रोचक एवं सरस बनाने में सफल हुए—

(१) रामायण में कथा का अन्त दुःखपूर्ण है। वाल्मीकि के कहने पर सीता

को स्वीकार करने के लिए राम उनकी चरित्र-शुद्धि का कोई प्रमाण उपस्थित करने का पुनः प्रस्ताव करते हैं। सीता अग्नि को साक्षी कर अपने पातिव्रत धर्म के प्रताप का पुनः प्रमाण देती हैं। परन्तु इस घटना से वह अपना बहुत अपमान अनुभव करती हैं और माता पृथ्वी से शरण देने की प्रार्थना करती हैं। इसी अवसर पर भूमि विदीर्ण हो जाती है और सीता उसमें समाविष्ट हो जाती हैं। इस अत्यन्त हृदय-विदारक घटना का भवभूति ने अपने ग्रन्थ में समावेश नहीं किया है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के नियमानुसार प्रत्येक रूपक सुखान्त होना चाहिए। इसीलिए भवभूति ने सीता और राम का पुनर्मिलन अंकित कर अपने ग्रन्थ का सुखान्त पर्यवसान किया है।

(२) मूल कथा में अश्वमेधीय अश्व के रक्षक और मुनि-कुमार लव या कुश के मध्य में युद्ध नहीं दिखाया गया है परन्तु भवभूति ने लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु और उनके चचेरे भाई लव के बीच अस्वाभाविक युद्ध दिखाकर ग्रन्थ को अधिक मनो-रंजक तथा घटनामय बना दिया है।

(३) इस नाटक में करुण रस की बड़ी सुन्दर एवं मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। रामायण की कथा के अनुसार सीता के गर्भवती होने के चिह्न प्रकट होते ही उनका निर्वासन कर दिया जाता है और लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि के आश्रम के निकट छोड़ आते हैं जहां कि लव और कुश का जन्म होता है। उत्तर रामचरित में करुणरस को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के हेतु सीता को वनवास उस समय दिया गया है जब कि उनका गर्भ पूर्णतया विकसित हो गया था। लक्ष्मण के जाने के उपरान्त सीता असह्य वेदना को न सह सकने के कारण गंगा में कूद पड़ीं और अधोलोक में पहुंच गयीं जहां उनके जुड़वा पुत्र लव और कुश का जन्म तथा आरम्भिक लालन-पालन हुआ। बच्चों के कुछ बड़े होने पर वे महर्षि वाल्मीकि को सौंप दिये गये, जिन्होंने उनकी शिक्षा आदि का उचित प्रबन्ध किया। इस प्रकार सीता को गंगा में कुदवाकर भवभूति ने हमारी करुणा एवं समवेदना उनके प्रति अधिक बढ़ा दी है।

(४) रामायण के अनुसार शत्रुघ्न द्वारा लवण के वध किये जाने के पश्चात् एक ब्राह्मण राम से अपने पुत्र की अकाल मृत्यु का प्रतिकार करने की प्रार्थना करता

है। नारद मुनि के कथनानुसार शम्बूक नामक शूद्र तपस्वी के वध के कारण ही यह उपद्रव हुआ है। राम वन में शम्बूक का वध करते हैं। यह घटना रामायण में सीता के पुत्र उत्पन्न होने के समय की है। परन्तु भवभूति ने इस घटना को बारह वर्ष बाद में वर्णन किया है। नारद मुनि के स्थान पर भवभूति ने यह वध का आदेश आकाशवाणी द्वारा राम को दिलवाया है। इस प्रकार नाटक अधिक मनोरंजक और मनोरम हो गया है।

संक्षेप में यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तर रामचरित महाकवि भवभूति की सर्वोत्कृष्ट एवं अन्तिम रचना है जिसमें उनकी प्रतिभा का पूर्ण परिपाक मिलता है।

भाषा और शैली

भवभूति के समय में संस्कृत काव्य में तीन प्रकार की शैलियां प्रचलित थीं जो काव्य-मनीषियों के मध्य में वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के नाम से विख्यात हैं। उस समय के कविगण प्रायः उन प्रचलित शैलियों में से किसी एक में ही अपना काव्य-कौशल दिखाया करते थे। परन्तु भवभूति ने वैदर्भी और गौड़ी दो सर्वथा ही भिन्न प्रकार की शैलियों को अपना कर अपना अनुपम चातुर्य प्रदर्शित किया है। वैदर्भी रीति के लक्षण निम्नलिखित हैं—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते॥—साहि० ९।२

इसमें ललित पदों में मधुर शब्दों से रचना की जाती है जिसमें छोटे-छोटे समास होते हैं अथवा उनका अभाव ही होता है। यह शैली महाकवि कालिदास ने भी अपनायी है।

गौड़ी रीति के लक्षण निम्नलिखित हैं—

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्धाडम्बरा पुनः।
समास-बहुला गौड़ी॥—साहि० ९।३

ओज को प्रकट करनेवाले लम्बे-लम्बे समासों सहित जटिल और कृत्रिम भाषा से विभूषित यह शैली होती है। इसमें प्रयुक्त अक्षरों द्वारा घटना का बहुत विस्तृत वर्णन होता है और लम्बे-लम्बे समास भी अधिक संख्या में विद्यमान होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों प्रकार की शैलियों में बड़ा अंतर पाया जाता है परन्तु भवभूति की रचनाओं में दोनों का ही समुचित प्रयोग है। युद्ध के भयंकर और श्मशान के वीभत्स दृश्य उपस्थित करते समय भवभूति ने एक ओर जहां दीर्घकाय समासवाले ओजोगुण-विशिष्ट क्लिष्ट पद्य रचे हैं, वहीं दूसरी ओर सुकुमार भावों की अभिव्यंजना करनेवाली समास-रहित ललित पदावली का प्रयोग किया है। कवि कभी-कभी तीव्र मनोरम भावों की व्यंजना करने में सुभग शैली का प्रयोग करता है। सीता के परित्याग करने के उपरांत वासन्ती राम को उलाहना देती हुई कहती है —

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण॥—उत्तर ३।२६

'तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे शरीर में नेत्रों के लिए चाँदनी के समान शीतल अमृत हो।' इस प्रकार आपने उस अबोध बालिका सीता के प्रति शतशः मधुर शब्दों का प्रयोग करके अब उसका क्या किया है अर्थात् त्याग दिया है। इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ। वासन्ती द्वारा राम को यह शोकपूर्ण उपालंभ देने का बड़ा ही तीव्र दर्शन है। पदावली प्रांजल और चित्ताकर्षक है एवं वैदर्भी रीति का अनुपम उदाहरण है।

गौड़ी और वैदर्भी दोनों ही शैलियों को अपनाते हुए भवभूति ने कहीं एक ही पद में दोनों प्रकार की शैलियों का रोचक प्रयोग किया है। एक श्लोक के पूर्वार्द्ध में कोमल भावों के प्रकट करने के लिए वैदर्भी रीति की सुकुमार पदावली प्रयुक्त हुई है और उत्तरार्द्ध में वीरोल्लासव्यंजक गौड़ी का सम्यक् दिग्दर्शन हुआ है। कवि ने भाषा का प्रभुत्व, व्यंजना-प्रणाली और अर्थ-गौरव ही अपनी शैली का आदर्श बताया

है। इस कसौटी के अनुसार उनकी कृति पूर्णतः सफल हुई है। उनकी रचनाओं में काव्यकला का भाव-पक्ष प्रधान है और विभाव-पक्ष गौण। मनोविकारों का निरूपण करते समय वे कालिदास की शैली से भिन्न उपमा इत्यादि अलंकारों का प्रयोग न कर प्रभावशाली शब्दों में उनका ब्योरेवार वर्णन करते हैं।

भवभूति किसी स्थान पर एक अवस्था-विशेष का पूर्ण चित्र अंकित कर देते हैं। यद्यपि उनकी भाषा में काव्यालंकारों का अभाव है, फिर भी वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। भावों की गहराई तक पहुंचना एवं एक स्थान पर अनेक भावों का पंचामृत उपस्थित कर देना उनकी शैली की विशेषता है। सीता द्वादश वर्षीय दीर्घ वियोगोपरान्त दंडकारण्य में अपने पति राम का साक्षात्कार करती हैं। उस समय उनके मन की क्या दशा है, इसका वर्णन करते हुए तमसा उनसे कहती है—

"तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा इव हृदयमस्मिन् क्षण इव॥"—उत्तर ३।१३

हे पुत्री सीता, इस समय तुम्हारा मन अपने पति से मिलने की पुनः आशा न रह जाने के कारण उपेक्षामय होते हुए भी, अकारण ही निर्वासित होने से महा दुखदायी दीर्घ वियोग के उपरान्त अकस्मात् पति से भेंट हो जाने के कारण नितान्त स्तब्ध है, राम के सहज सौजन्य से प्रसन्न और प्रियतम के विरह-विलाप के कारण अत्यन्त शोकाकुल हो रहा है। यहां पर इस पद्य में कवि ने एक भाव का उदय और दूसरे का लय दिखाने में अपना मनोहर काव्य-चातुर्य प्रकट किया है।

व्यंग का चित्रण करने में भी कवि बहुत निपुण हैं। प्रथम अंक में महाराज रामचन्द्र के लिए 'नूतन राजा' शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि वह कुछ भी आदेश दे सकते हैं जिसके पालन में किसी को अवज्ञा करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। लव राम के विषय में जो व्यंग उपस्थित करते हैं वह निस्संदेह ही बड़ा मार्मिक है।

राम के सम्बन्ध में उनकी सम्मति निम्नलिखित है—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरयोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः॥––उत्तर ५।३४

श्रद्धास्पद महाराज रामचन्द्र जी वयोवृद्ध हैं। इस कारण उनके जीवन के संबंध में अधिक समालोचना करना अनुचित ही प्रतीत होता है। उनके गौरव का जितना ही वर्णन किया जाय कम है। संद की भार्या ताड़का का वध करने पर भी उनका विमल यश धवलित हो रहा है। खरदूषण जैसे राक्षस से युद्ध करते समय वह तीन पग पीछे हटे थे तथा बालि का वध करने पर भी उन्होंने जो अपार पुरुषार्थ दिखाया था उससे समस्त संसार परिचित ही है। राम के जीवन में पायी जानेवाली सभी न्यूनताओं का यहां निर्देश कर दिया गया है और तदनुसार सुन्दर व्यंग उपस्थित किया गया है।

अर्थानुकूल ध्वनि उत्पन्न करने में भी वे कुशलहस्त थे। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वे विदर्भ प्रदेश के निवासी थे। अतः वहां के समीपवर्ती कान्तारमय प्रदेशों का भवभूति के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा जिस कारण उनको प्रकृति के रमणीय स्थलों का वर्णन करने में आशातीत सफलता मिली।

झंझावात के दृश्यों का, रण-क्षेत्र के भयावह चित्रों का, श्मशान के वीभत्स रूप का निरूपण करते समय उनकी पदावली अपनी भावात्मक प्रतिध्वनि से पाठकों के हृदय पर वर्ण्य वस्तु का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत कर देती है।

भवभूति रसों का निरूपण करने में भी अतिशय चतुर थे। उनके तीनों ही नाटकों में तीन विभिन्न रसों की अद्भुद् अभिव्यनित हुई है। मालतीमाधव में श्रृंगार का, महावीर चरित में वीर रस का और उत्तर रामचरित में करुण रस का पूर्ण परिपाक मिलता है। नाट्य-शास्त्र के आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में यह नियम बनाया था कि नाटक का प्रधान रस श्रृंगार अथवा वीर ही होना चाहिए। भवभूति के पूर्ववर्ती प्रायः समस्त नाट्यकारों ने इस नाट्य-परंपरा का पूर्णतः पालन किया है। परन्तु इस नियम के विपरीत भवभूति ने अपने सर्वोत्कृष्ट

नाटक उत्तर-रामचरित में करुण रस को प्रधान रस के रूप में स्थापित कर अपनी काव्य-कीर्त्ति को सदा के लिए अमर बना दिया है। रसों की इस प्राचीन परंपरा को माननेवाले कुछ आलोचक उत्तर-रामचरित को विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत सिद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं। परन्तु जब हम भवभूति के इस कथन पर विचार करते हैं कि करुण रस ही सब रसों में व्यापक है तथा अन्य आठ रस उसी के रूपान्तर हैं तो आलोचकों की यह धारणा सर्वथा निर्मूल हो जाती है। कवि ने करुण रस के विषय में स्वयं अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्त बुदबुद्‌तरङ्गमयान्विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥—उत्तर० ३।४७

एक करुण रस ही प्रधान रस है तथा शृंगार, वीर आदि अन्य आठ रसों को वही जन्म देता है। ये रस करुण के ही पृथक्-पृथक् रूप हैं। जिस प्रकार एक ही रूप वाला स्थिर जल बुलबुले और तरंगों के रूप में परिवर्तित होता रहता है उसी प्रकार एक करुण रस ही अन्य रसों का रूप धारण कर जल के समान ही अपनी नाना प्रकार की आकृतियों को प्रकट किया करता है।

यह श्लोक समस्त उत्तर रामचरित नाटक का बीजमंत्र है जिसके आधार पर करुण रस की कवि द्वारा अद्‌भुद व्यञ्जना का दर्शन कराया गया है। नाटक का प्रत्येक अंक करुण रस की मार्मिक अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

प्रथम अंक में राम सीता को चित्र दर्शन करवाते हैं और उनको अपने अतीत दुःखों का स्मरण होता है। पंचवटी की ओर ध्यान आकृष्ट होते ही सीता और राम दोनों व्याकुल हो जाते हैं। इस चित्र-दर्शन के साथ पति-पत्नी के प्रगाढ़ अनुराग का प्रमाण भी मिलता है और भावी भीषण विरह की भी सूचना प्राप्त होती है। इस प्रकार निकट भविष्य में होनेवाले महा भयावह दृश्य के चिह्नों को प्रकट करने में कवि ने सचमुच ही अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। दूसरे अंक में राम का पंचवटी में प्रवेश होता है तथा सीता के साथ अतीत कालीन घटनाओं का स्मरण

कर उनकी व्याकुलता एवं विरह-वेदना द्विगुणित हो जाती है। उस समय राम कहते हैं—

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
पुराभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव॥ —उत्तर० २।२६

इस समय दीर्घ कालोपरान्त मेरी विरह वेदना अविलम्ब उत्पन्न हो रही है और सर्वत्र विष के समान तीव्र वेग से संधानित बाण के अग्र भाग के समान हृदय के मर्म स्थल में फोड़े की विकराल वेदना की भांति मुझे कष्ट पहुंचा रही है। मैं दारुण शोक के कारण मूर्च्छित-सा हुआ जा रहा हूँ। तृतीय अंक में करुण रस का अगाध सागर ही परिपूर्ण कर दिया गया है। इस अंक में भवभूति के करुण रस ने अपने विकास की चरम सीमा को स्पर्श कर लिया है। इसी अंक में राम और सीता का अल्पकालीन साक्षात्कार भी होता है और राम अपनी तत्कालीन मानसिक व्यथा का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

आश्च्योतनं नु हरिचन्दनपल्लवानां
निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः।
आतप्तजीवितमनः परितर्पणोऽयं
सञ्जीवनौषधिरसो हृदि नु प्रसक्तः॥—उत्तर० ३।११

सीता के सहसा दर्शन से मेरे हृदय पर हरिचन्दन के पत्तों के रस का स्राव सा प्रतीत होता है। निचोड़ी हुई चन्द्रकिरण रूपी नवांकुरों का सिंचन सा किया गया है अथवा संतप्त जीवन और मन को प्रफुल्ल करनेवाली संजीवन औषधि के रस की मेरे ऊपर वर्षा की गयी हो। इस श्लोक में सीता के दर्शन के समय अकस्मात् राम की मानसिक दशा का बड़ा ही सुन्दर चित्र मिलता है।

वासन्ती राम को वन में अतीत काल का स्मरण कराती हुई इस प्रकार कहती है—

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरी-सैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः॥

—उत्तर० ३।३७

हे देव ! यह वही लतागृह है जिसके द्वार पर स्थित होकर आप सीता की प्रतीक्षा कर रहे थे और सीता गोदावरी के तट पर खड़ी होकर हंसों के साथ मनोविनोद कर रही थी। कुछ कालोपरांत जब आपको उसने देखा तो कमल-कलियों के समान अपने हाथों को युक्त करके आपको सादर प्रणाम किया।

इस उक्ति से करुण रस के सुकुमार प्रसंग की स्मृति में राम और सीता दोनों का ही शोक सहजतया उद्दीप्त हो जाता है। राम सीता के वियोग में अत्यधिक व्याकुल और शोक-संतप्त हो गये थे। सीता की निरवधि विरह-वेदना की कल्पना करते हुए उनका विचार स्मरणीय है—

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरै
र्विमर्दै र्वीराणां जगदत्यदभुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः॥

—उत्तर० ३।४४

सीता का पूर्व शोक जो कि रावण के हरण करने के उपरान्त उत्पन्न हुआ था, उपायों के प्रतिकार की विद्यमानता के कारण सतत मन लुभानेवाले सुग्रीव, हनुमान आदि वीरों की सहायता से युद्ध पर्यन्त ही सीमित था तथा जगत में अद्‌भुद् रस को उत्पन्न करके रावण रूपी शत्रु के विनाश से समाप्त हो गया परन्तु आधुनिक विरह-वेदना कठिन और प्रतिकार के अभाव में अनन्त है। आगे चल कर हनुमान और सुग्रीव जैसे वीरों की मित्रता को भी इसमें निरर्थक ही बताते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में शोक और करुणा दोनों की ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

चौथे अंक में भूतकाल के सुखदायी दिनों का स्मरण कर कौशल्या सीता के गतप्राण होने की कल्पना कर अतिशय करुण क्रन्दन करने लगती हैं। जनक जैसे ब्रह्मज्ञानी और कौशल्या जैसी विदुषी महिला को शोकाकुल देखकर प्रेक्षकों के हृदय में स्वाभाविक संवेदना जाग्रत हो जाती है।

पांचवें अंक में चन्द्रकेतु और उनके सारथी सुमंत लव को रघुवंश के किसी अज्ञात कुलोत्पन्न वीर होने की कल्पना करते हैं। यह विचार आते ही सीता के अभाव के कारण वह दारुण शोक के वशीभूत हो अत्यधिक संतप्त हो जाते हैं। चंद्रकेतु और लव जैसे चचेरे भाइयों का बिना एक दूसरे को पहिचाने हुए युद्ध करना ही पर्याप्त करुणोत्पादक है।

छठे अंक में राम का उनके पुत्र लव और कुश से प्रथम साक्षात्कार सहसा ही हो जाता है। पिता पुत्रों को न पहिचानते हुए भी एक विचित्र वात्सल्य रस का अनुभव करता है तथा उनकी आकृति में सीता के सौन्दर्य की छाप का अनुभव करके अति-शोकाकुल हो उठता है। इसी समय जब वह गर्भ-भार से व्याकुल सीता की पूर्वावस्था का स्मरण करता है तो उसकी वेदना और भी बढ़ जाती है।

सातवां अंक भवभूति की इस रचना में रामायण के कथानक-परिवर्तन का प्रमुख रूप है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी अंक में मूल कथा के दुःखांत होने के विरुद्ध नाटक का सुखांत पर्यवसान किया गया है। सीताराम का पुनर्मिलन इसी अंक में होता है जिसके मूल में सीता-निर्वासन का करुण अभिनय सगाविष्ट है। इस चित्र को देख कर राम क्षुब्ध एवं वाष्पोत्पीडनिर्भर होकर मुहुर्मुहुः मूर्च्छित हो जाते हैं। यह अंक तीसरे अंक का नैसर्गिक चरमोत्कर्ष मात्र प्रतीत होता है एवं एक अपूर्व भाव-गाम्भीर्य के साथ-साथ करुण रस की सुखद मधुर परिणति में परिवर्त्तित हो जाता है।

भवभूति द्वारा उत्तर रामचरित में करुण रस को प्रधान बनाना संस्कृत नाटक साहित्य के इतिहास में एक अपूर्व घटना है। इस नूतन परिपाटी के जन्मदाता के रूप में भवभूति की बाद में बहुत ही प्रशंसा हुई है। गोवर्द्धनाचार्य ने भवभूति के करुण रस के संबंध में जो निम्न गर्वोक्ति की है वह निःसंदेह ही स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है—

भवभूतेः सम्बन्धाद भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥ -आ० स० १।३६

यह आर्या सप्तशती का श्लोक है जिसका तात्पर्य यह है कि भवभूति (कवि भवभूति या भगवान महादेव) के संबंध से सरस्वती पर्वतराज कन्या पार्वती के समान सुशोभित हो रही है क्योंकि जब भवभूति की वाणी अथवा पार्वती करुण भाव की व्यञ्जना या विलाप करती है तो चेतन प्राणियों की बात ही क्या, पाषाण जैसे जड़ पदार्थ भी करुण क्रंदन करने लगते ह। गोवर्द्धनाचार्य की इस उक्ति से उत्तर रामचरित की लोक प्रसिद्ध पंक्ति "अपि ग्रावा रोदित्यपि दलयति वज्रस्य हृदयम्।" १।२८ की ओर संकेत हुआ है।

भवभूति और कालिदास

ये दोनों ही कलाकार संस्कृत साहित्य-क्षेत्र में अत्यन्त देदीप्यमान रत्न हैं, जिनकी किसी प्रकार भी उपेक्षा करना सरल नहीं है। भवभूति और कालिदास की श्रेष्ठता विषयक प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद एवं जटिल हो गया है जिसका रूप निम्नलिखित श्लोक से विदित होता है—

"कवयः कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकविः।
तरवः पारिजाताद्याः स्नुहीवृक्षो महातरुः॥"

भवभूति के समर्थकों का कथन है कि कालिदास आदि तो केवल कवि ही हैं परन्तु भवभूति महाकवि हैं। इसके विरुद्ध कालिदास के पक्षपाती यह मुँहतोड़ उत्तर देते हैं कि स्वर्ग लोक के प्रसिद्ध पारिजात कल्पवृक्षादि भी तो वृक्ष ही हैं पर स्नुही वृक्ष या सेहुंड़ अवश्य महा वृक्ष है।

इस उक्ति से प्रतीत होता है कि इन कवियों की महानता विषयक विवाद अति प्राचीन है जिसका निर्णय करना अति दुष्कर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जन-साधारण में कालिदास की अपेक्षा भवभूति का बहुत कम प्रचार हुआ परन्तु केवल ख्याति ही महानता की द्योतक नहीं हो सकती। दोनों साहित्यकारों ने

अपने-अपने क्षेत्रों में अद्भुद् चमत्कार दिखलाये हैं। कालिदास भवभूति के पूर्व-वर्ती थे अत: निःसंदेह ही भवभूति की रचनाओं पर कालिदास का प्रभाव होना स्वाभाविक था। अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त और भरत के अज्ञात मिलन के आधार पर भवभूति ने उत्तर-रामचरित में राम और लवकुश का अज्ञात मिलन अंकित किया है।

भवभूति की शैली वर्णनात्मक है। उनका वर्णन पूर्ण एवं विस्तृत होता है। अत: पाठकों को कल्पना का किंचित् भी अवसर नहीं मिलता। कालिदास एक घटना का सूक्ष्म वर्णन करने के उपरांत शेष पाठकों की कल्पना के लिए छोड़ देते हैं जबकि भवभूति ने कहीं भी ऐसा अवसर प्रदान नहीं किया है।

कालिदास की शैली वैदर्भी है, जबकि भवभूति की शैली गौड़ी और वैदर्भी का सम्मिश्रण है। इस प्रकार जब कालिदास एक ही शैली के आचार्य हैं भवभूति ने दो सर्वथा भिन्न प्रकार की शैलियों में अपना दिव्य पांडित्य प्रदर्शित किया है। यही कारण है कि अपेक्षाकृत ओज और शब्दाडंबर भवभूति की रचनाओं में अधिक मिलता हैं। उपमा की दृष्टि से भी इन दोनों महाकवियों ने सर्वथा भिन्न प्रकार की शैलियां अपनायी हैं। कालिदास किसी मूर्त पदार्थ की उपमा किसी मूर्त पदार्थ से ही देते हैं जिसका कि पाठकों के हृदय पर सहजता से ही प्रभाव पड़ जाता है। परन्तु भवभूति इसके प्रतिकूल मूर्त पदार्थों की उपमा भावात्मक विचारों एवं अमूर्त तत्वों से देते हैं जिसका समझना ही पाठकों के लिए कठिन हो जाता है। उत्तर-रामचरित के छठे अंक में वायु की उपमा विद्या से दी गयी है परन्तु कालिदास ने कहीं भी इस प्रकार की शैली नहीं अपनायी है।

कालिदास ने अपनी रचना में विदूपक का समावेश कर उसे अधिक रोचक बनाने में सफलता प्राप्त की है। परन्तु भवभूति के रूपकों में उसका सर्वथा ही अभाव है। यह शैली भी कवि की मौलिक ही है। विदूषक के अभाव में ही भवभूति पर्याप्त नाट्य चातुरी प्रदर्शित करने में सफल हुए, यह भी उनके लिए एक विशेष गौरव का लक्षण है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महाकवि कालिदास सुकुमार एवं कोमल भावों की अभिव्यञ्जना करने में भवभूति से कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं महान् कवि हैं। इसी प्रकार यह कहना भी अनुपयक्त न होगा कि युद्ध की भयंकरता,

श्मशान का वीभत्स चित्र उपस्थित करने में भवभूति ने मानवी मनोभावों के चित्रण में जैसा विशद अंकन प्रस्तुत किया है उस प्रकार करने में कालिदास सर्वथा असमर्थ रहे। श्रृंगार रस के क्षेत्र में कालिदास तथा करुण रस के क्षेत्र में भवभूति संस्कृत साहित्य में श्रेष्ठतम साहित्यकार हैं।

इस प्रकार कालिदास और भवभूति संस्कृत साहित्य के दो महाकवियों की रचनाशैली की तुलना करने पर विदित होता है कि दोनों ही साहित्यकारों का कार्य-क्षेत्र सर्वथा अभिन्न नहीं है और दोनों ने ही अपने-अपने रचना-क्षेत्र में अलौकिक चमत्कार प्रकट किये हैं। इस विषय में हमारे लिए यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कालिदास ने खंडकाव्य, महाकाव्य, गीतकाव्य, नाटक इत्यादि की रचना कर अपना काव्य-कौशल प्रकट किया है। परन्तु अभी तक भवभूति के रूपकों के अतिरिक्त अन्य साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इस विषय में मत प्रदान करना सम्भव नहीं है कि सर्वतोमुखी प्रतिभा में दोनों में से कौन अद्वितीय है।

१२. विशाखदत्त

(चौथी या पांचवीं शताब्दी ई०)

संस्कृत नाटक-साहित्य में मुद्राराक्षस नामक नाटक अपने प्रकार का एक अनुपम एवं अपूर्व नाटक है जिसकी स्वतंत्र सत्ता की किसी प्रकार भी उपेक्षा करना संभव नहीं है। इसके रचयिता विशाखदत्त नाटकशास्त्र एवं इसके नियमों के प्रकांड विद्वान् होते हुए भी एक नवीन परंपरा के जन्मदाता सिद्ध हुए हैं। उनकी मौलिकता का बाद में कोई भी नाटककार सफलतापूर्वक तद्वत् अनुसरण नहीं कर पाया है। किसी विख्यात वंश में उत्पन्न व्यक्ति अथवा सम्राट् को प्राचीन परंपरानुसार नाटक का नायक न बना कर राजनीति में अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु चाणक्य को उन्होंने अपनी रचना का नायक बना कर एक दिव्य प्रतिभा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

संस्कृत के अधिकांश साहित्यकारों के समान विशाखदत्त का भी प्रादुर्भाव संदिग्ध ही है और उनके काल-निर्धारण करने के लिए हमें बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त हुई है। उनकी रचना "मुद्राराक्षस" के अवलोकन करने से विदित होता है कि कुछ संस्करणों के अनुसार उनके पिता का नाम पृथु तथा अन्य संस्करणों के अनुसार भास्करदत्त था। उनके पितामह सामंत वटेश्वर दत्त के नाम से विख्यात थे। इस प्रकार उनके पिता तथा पितामहों के नामों में दत्त शब्द के साम्य से कतिपय विद्वानों की धारणा है कि वे किसी अज्ञात दत्त वंश में उत्पन्न हुए थे। किन्तु इस वंश के अस्तित्व के विषय में कोई ऐतिहासिक उल्लेख न होने के कारण यह धारणा हमें उनका समय निर्णय करने में उचित सहायता प्रदान नहीं करती।

विशाखदत्त का समय निर्णय करने के लिए मुद्राराक्षस के भरतवाक्य पर विचार करना चाहिए जो इस प्रकार है—

"वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वीज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥"

इस श्लोक के अनुसार नाटककार किसी चन्द्रगुप्त नामक विख्यात सम्राट् का समकालीन एवं आश्रित राज-कवि हो सकता है। मुद्राराक्षस की उपलब्ध विविध हस्तलिखित प्रतियों के अवलोकन करने से विदित होता है कि श्लोक के अंतिम पद में पर्याप्त पाठ भेद है जहां कि चन्द्रगुप्त, अवन्ति वर्मा, दन्ति वर्मा, रन्ति वर्मा चार पृथक् पाठ-भेद पाये जाते हैं जिसके कारण नाटककार के काल-निर्णय करने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो गयी है। इन पाठभेदों के आधार पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न धारणाएँ प्रकट की हैं। रमा स्वामी के मतानुसार दन्ति वर्मा पाठ शुद्ध है जिसमें नाटककार ने इस आधार पर पल्लव नरेश दन्ति वर्मा की ओर संकेत किया है। ऐतिहासिक विद्वानों के कथनानुसार दन्ति वर्मा का राज्य काल सातवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है। अतः समकालीन होने से विशाखदत्त इसी काल के समीप हुए होंगे। इस मत के विरुद्ध प्रो० ध्रुव का कथन है कि पल्लव नरेश शैव मतावलम्बी थे जब कि कवि ने भरतवाक्य में विष्णु अवतार स्वरूप राजा का ही वर्णन किया है। अतः कवि के वैष्णव होने के कारण रमा स्वामी का यह मत युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता।

चन्द्रगुप्त के विषय में ध्रुव का मत है कि वे नाटक के एक पात्र मात्र ही हैं। नाट्य परंपरा के अनुसार भरतवाक्य में कवि का अभिप्राय किसी पात्र विशेष से न होकर तत्कालीन राजा से ही होता है। इसलिए उन्होंने अवन्ति वर्मा ही इस विषय में शुद्ध पाठ माना है। तैलंगानुसार अवन्ति वर्मा कन्नौज के राजा थे और सातवीं या आठवीं शताब्दी ई० में अन्तिम गुप्त नरेशों में से कोई एक थे, जब कि ध्रुव के अनुसार विशाखदत्त छठी शताब्दी ई० में विद्यमान थे।

सन् ५२८ ई० में दशपुर के संग्राम में हूणों को परास्त कर महाराज यशो वर्मा ने उनके साम्राज्य को अनेक भागों में विभक्त कर दिया। इन हूणों ने जब

पुनः उपद्रव मचाया उस समय कान्यकुब्ज के यशस्वी सम्राट् प्रभाकर वर्द्धन ने उनको अवन्ति वर्मा की सहायता से परास्त किया था। इस प्रकार अवन्ति वर्मा प्रभाकर वर्द्धन के संबंधी एवं समकालीन राजा थे और उनका समय छठी शताब्दी ई० का अंत है। ऐसी स्थिति में विशाखदत्त का भी यही समय अनुमानित किया जा सकता है। काशीप्रसाद जायसवाल ने मुद्राराक्षस के चन्द्रगुप्त पाठ को ही ठीक माना है और उनका मत है कि भरतवाक्य में कवि का अभिप्राय नाटक के प्रमुख नियंता एवं विधायक मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त से न होकर गुप्त वंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से है, जिनका राज्यकाल सन् ३७५ से ४१३ ई० तक था। इस प्रकार यह नाटककार के समय को चतुर्थ शताब्दी ई० में प्रमाणित करने का प्रयास है। इस मत के विरुद्ध कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का कथन है कि कवि का इस स्थान पर अभिप्राय हूणों के आक्रमण से है जो कि कथित सम्राट् के राज्यकाल के शताब्दियों उपरांत सम्पन्न हुआ और इस प्रकार जायसवाल का मत भी माननीय नहीं हो सकता।

इन भिन्न-भिन्न विपरीत मतों की विद्यमानता के कारण हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विशाखदत्त एक अति प्राचीन नाटककार थे। भरत-वाक्य में राजा के अनुसार भविष्यवर्ती अभिनय के समय परिवर्तन किया गया होगा और चन्द्रगुप्त ही इनमें प्राचीनतम होने से युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि मनीषियों ने यह प्रयास किया है कि विशाखदत्त का समय सातवीं या आठवीं शताब्दी के लगभग सिद्ध हो सके। इस मत के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियां विद्यमान हैं—

(१) मुद्राराक्षस में जो शैली अपनायी गयी है उसके अवलोकन करने से विदित होता है कि वह सातवीं या आठवीं शताब्दी की शैली से बहुत भिन्न है और इससे पूर्ववर्ती समय की ओर संकेत करती है।

(२) कुछ विद्वानों के मतानुसार मुद्राराक्षस का भरतवाक्य अवन्ति वर्मा का प्रशस्ति-गान है। यदि यह मत ठीक हो तो महाकवि बाण विशाखदत्त के पूर्ववर्ती सिद्ध हो जाते हैं। प्रभाकर वर्द्धन तथा हर्ष की यशोगाथा का जो कि बाण की

लेखनी के अमर चमत्कार है, विशाखदत्त पर प्रभाव नहीं पड़ सका। अतः यह मत भी उचित प्रतीत नहीं होता।

(३) मुद्राराक्षस में विशाखदत्त ने चन्दनदास के शील एवं सौजन्य का जो चित्र खींचा है उससे प्रतीत होता है कि यह बोधिसत्वों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है जैसा कि सातवें अंक के छठे श्लोक के अवलोकन से प्रमाणित होता है। यह भावना भारत की परिस्थिति को देखते हुए छठी से आठवीं शताब्दी ई० के मध्य में प्रचलित प्रतीत नहीं होती। चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी में गुप्त वंश के वैष्णव नरेश इस मत के अनुगामी थे जिन्होंने सम्भवतः इस प्रकार की भावना का प्रसार किया होगा। इसी कारण कवि ने भरतवाक्य में वैष्णव आश्रयदाता गुप्त वंशीय सम्राट् समुद्रगुप्त या चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ओर संकेत किया है।

(४) इसके अतिरिक्त कवि ने जिस साम्राज्य एवं सामाजिक दशा का चित्र खींचा है उसकी भौगोलिक दशा पर विचार करने से वह देश की चौथी या पांचवीं शताब्दी ई० की दशा प्रतीत होती है।

इतने विचार-विनिमय के पश्चात् भी हम मुद्राराक्षस के रचयिता विशाखदत्त के समय को प्रामाणिक रूप से निश्चित नहीं कर सके हैं। ग्रंथ में जिस सामाजिक दशा का चित्रण हुआ है उससे प्रतीत होता है कि वह चौथी या पांचवीं शताब्दी ई० में रचा गया था। भरतवाक्य के अनेक पाठभेदों के कारण उनमें उल्लिखित राजाओं के आधार पर यह समय सातवीं या आठवीं शताब्दी ई० भी माना जा सकता है। किन्तु इस पाठ-भेद के कारण वह पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अतएव हमारे विचार से नाटक की शैली व सामाजिक दशा के आधार पर कवि का समय चौथी या पांचवीं शताब्दी ई० मानना ही अधिक श्रेयस्कर है।

मुद्राराक्षस का कथानक

इस नाटक में एक प्राचीन ऐतिहासिक एवं राजनीतिक घटनाचक्र को बड़े ही मार्मिक रूप में नाटकीय आकार प्रदान किया गया है। यह नाटक ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व के इतिहास के कुछ अंशों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। नन्दवंश के विनाशोपरान्त पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य का आधिपत्य स्थापित हुआ।

नन्दों के स्वामिभक्त मंत्री राक्षस ने चन्द्रगुप्त के गुरु एवं मंत्री चाणक्य से बदला लेने का दृढ़ निश्चय किया। चाणक्य पहले से ही उसे छकाने के लिए तत्पर थे। दोनों ही अपनी विभिन्न प्रकार की राजनीतिक चालें चलते रहते हैं और अंत में राक्षस असफल होता है। विशाखदत्त ने इसी घटना को बड़े ही रोचक ढंग से सात अंकों में नाटकीय रूप प्रदान किया है। चन्द्रगुप्त का आरंभ से ही नन्द वंश से स्वाभाविक बैर चला आता था।

प्रथम अंक के आरम्भ होते ही एकाकी चाणक्य अपनी यह प्रतिज्ञा व्यक्त करता है कि वह नन्द वंश का समूल विनाश कर राक्षस को अपने अधिकार में कर लेगा। राक्षस की स्वामिभक्ति और कार्यकुशलता से उसका आरम्भ से ही परिचय था। अतः वह राक्षस को अपने अधीन चन्द्रगुप्त का मंत्री अभिषिक्त करने का प्रबल इच्छुक था। राक्षस अपनी पत्नी और बच्चों को सुरक्षा की दृष्टि से अपने अभिन्न मित्र चन्दनदास के घर पर कुछ काल के लिए छोड़ देता है। चन्दनदास एक जौहरी है और शकट दास उसका सहायक है। एक बच्चे ने संयोगवश चन्दनदास के घर के दरवाजे पर राक्षस की मुद्रा या अंगूठी गिरा दी थी जो कि चाणक्य को निपुणक की सहायता से सहज ही में मिल गयी। इस वियोग से राक्षस की शक्ति कम होने लगी और चाणक्य की बढ़ने लगी। जब यह विदित हुआ कि राक्षस का परिवार चन्दनदास के घर पर छिपा हुआ है, उस जौहरी को इस अपराध में पकड़ कर कारागार का दंड दे दिया जाता है और उसके प्रेमी जीवसिद्धि और सिद्धार्थक भी भीषण विपत्ति में पड़ जाते हैं। यह सूचना पाकर चाणक्य के हर्ष की सीमा नहीं रहती।

द्वितीय अंक में राक्षस की भयावह चालें आरम्भ होती हैं। आरम्भ में ही उसे एक अपशकुन की सूचना मिलती है। संपेरे के भेष में आता हुआ विराधक उसे सूचित करता है कि चन्द्रगुप्त की हत्या का षड्यन्त्र असफल हुआ। उसके स्थान पर त्रुटिवश राजसिंहासन के समीप ही मलयकेतु के चाचा का वध हो गया। अभयदत्त जो कि सम्राट् चन्द्रगुप्त को विष का घूंट पिलाने का इच्छुक था, पकड़ा गया और उसे स्वयम् बाध्य होकर विषपान करना पड़ा। प्रमोदक ने सब धन व्यय कर दिया। जो जीव गुप्तमार्ग से सम्राट् के शयनागार में प्रविष्ट होना चाहते थे,

वे पकड़ लिये गये और अग्नि द्वारा भस्मसात् कर दिये गये। शकटदास और जीवसिद्धि पहले से ही विपत्ति में पड़े हुए हैं। इस प्रकार राक्षस और विराधक का वार्तालाप चल ही रहा हैं कि अकस्मात् शकटदास और चंदनदास का प्रवेश होता है और सहसा ही इस प्रकार उनका वार्तालाप अवरुद्ध हो जाता है। सिद्धार्थक इस अवसर पर सहसा उपलब्ध हुई राक्षस की मोहर को उसके सम्मुख प्रस्तुत करता है। कुछ देर पश्चात् यह सूचना मिलती है चन्द्रगुप्त चाणक्य से रुष्ट हो गया है। यह समाचार पाकर समस्त उपस्थित मंडली में एक अनुपम हर्ष और विस्मय की लहर फैल जाती है।

तृतीय अंक में राजनीति-कुशल चाणक्य अपनी एक अद्‌भुद् चाल दिखाता है। चन्द्रगुप्त ने यह राजाज्ञा निकाली कि बिना उसकी आज्ञा के राज्य में किसी प्रकार कोई भोज नहीं किया जा सकता। यह आज्ञा चाणक्य को उद्विग्न कर देती है और वह मिथ्या क्रोध का अभिनय करता है। यह दिखलाने के लिए वह मंत्री-पद में त्यागपत्र भी दे देता है। राक्षस यह जानकर बड़ा प्रसन्न होता है और समझता है कि अब वह आसानी से चन्द्रगुप्त को अपने वश में कर लेगा।

चतुर्थ अंक में राक्षस की कूटनीति प्रायः असफल सी हो जाती है और वह पतनोन्मुख हो जाता है। राक्षस का विश्वस्त सेवक भागुरायण चन्द्रगुप्त के समीप आता है और यह कहता है कि हम राक्षस पक्ष के लोग आप से किञ्चिन्मात्र भी द्वेष नहीं करते। हमारी शत्रुता तो चाणक्य ही से है। यह संवाद सुन कर चन्द्रगुप्त चक्कर में पड़ जाता है। कुछ देर बाद सम्राट्, राक्षस और उसके सहयोगी का यह वार्तालाप श्रवण करते हैं कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य में फूट हो गयी है जिससे हम अवश्य सफल हो सकेंगे। यह सुन कर चन्द्रगुप्त और भी चक्कर में पड़ जाता है। अंक के अंत में जीवसिद्धि का आगमन होता है और वह राक्षस को अगला पद उठाने के लिए प्रेरित करता है।

पंचम अंक में ये घटनाएं बढ़ती हैं। जीवसिद्धि और भागुरायण का प्रवेश होता है और वे राक्षस के कार्य यथावत् पूर्ण न कर सकने के कारण अत्यन्त भयभीत चित्रित किये गये हैं। राक्षस की योजना के अनुसार वे लोग चन्द्रगुप्त को पूर्णतया हानि पहुंचाने में असमर्थ रहे। चन्द्रगुप्त को राक्षस के इन सब कृत्यों की सूचना

यथासमय मिल गयी और वह भी उनके प्रतिकार के लिए उपाय सोचने लगा। बन्दी के रूप में सिद्धार्थक सम्राट् के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और बहुत कठोर बर्ताव करने के उपरान्त वह कठिनता से राक्षस के विरुद्ध अपना वक्तव्य देता है। इसी अवसर पर वह राक्षस का एक बहुमूल्य रत्न उपस्थित करता है। राक्षस द्वारा चाणक्य को चन्द्रगुप्त से पृथक करने की विस्तृत योजना पर प्रकाश भी डालता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त को राक्षस की योजना का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। राक्षस को जब यह बोध होता है कि उसका समस्त षड्यन्त्र चन्द्रगुप्त को विदित हो गया है यहां तक कि उसका मुद्रांकित पत्र भी चन्द्रगुप्त के हाथ लग गया है—तो उसे अपनी रक्षा का कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता। चन्द्रगुप्त ने इस अवसर पर एक मुद्रित आज्ञा निकाली जिसके अनुसार प्रत्येक संभव उपाय से उसके समस्त राक्षस पक्षी विरोधियों का अन्त कर दिया जावे। राक्षस का अभिन्न मित्र चन्दनदास भी इस चंगुल में फंस जाता है और अनेक उपाय करने पर भी राक्षस उसकी रक्षा करने में असमर्थ ही होता है।

षष्ठ अंक में राक्षस अपने मित्र की रक्षा न कर पाने के कारण अति विलाप करता है। इतने में ही चन्द्रगुप्त का एक गुप्तचर उसके समीप आता है और उसको इस प्रकार से धमकी देता है कि वह चन्दनदास के प्राणों की रक्षा के लिए तनिक भी प्रयत्न न करे, अन्यथा संभव है कि उसको भी अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ जावें।

सप्तम अंक का आरम्भ बड़े ही करुणामय दृश्य से होता है। चंदनदास मृत्यु-शैया पर पड़ा हुआ क्रोध कर रहा है। उसकी धर्मपत्नी और पुत्र यह दृश्य देख कर एक असाधारण अनिवर्चनीय पीड़ा का अनुभव करते हुए अंकित किये गये हैं। इतने में ही सहसा राक्षस का प्रवेश होता है जिसके कुछ ही कालोपरान्त चन्द्रगुप्त और उसके अनन्य भक्त चाणक्य भी रंग-मंच पर दृष्टिगोचर होते हैं। नाटक में इन तीनों राजनीतिज्ञ महारथियों का एक साथ यह प्रथम मिलन है। इस अवसर पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों ही राक्षस को साम्राज्य का मंत्रित्व स्वीकार करने के लिए आमंत्रित करते हैं। यह पद स्वीकार करने पर न केवल राक्षस को अपितु चन्दनदास, शकटदास तथा उसके अन्य मित्रों को भी अभयदान एवं उचित पुरस्कार मिलता है। अंत में नियमानुसार भरतवाक्य द्वारा नाटक की समाप्ति की गयी है।

हम जब नाटक के नामकरण और व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं तब हमें नाटककार के विशेष ज्ञान का परिचय मिलता है। 'मुद्राराक्षस' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है "मुद्रया गृहीतं राक्षसमधिकृत्य कृतो ग्रंथः मुद्राराक्षसम्" अर्थात् मुद्रा या अंगुलीयक मुद्रा से राक्षस के निग्रह के सम्बन्ध में एक रूपक ग्रंथ। यहां पाणिनि मुनि के सूत्र 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' के अनुसार अन् प्रत्यय और नपुंसक लिंग है। इस प्रकार विदित होता है कि इस नामकरण पर महाकवि शूद्रक के मृच्छकटिक व कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् ग्रन्थ का विशेष प्रभाव पड़ा है। चाणक्य को प्रथम अंक में राक्षस की मुद्रा मिल गयी और इसी घटना से दोनों का वैर प्रदर्शित करना नाटक में आरम्भ किया गया है।

विशाखदत्त की रचनाशैली

विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में अपने भाव और विचारों को गम्भीरता पूर्वक व्यक्त कर अपनी काव्य-कला के अनुसार इस कृति को रोचक नाटकीय रूप प्रदान किया है। अलंकार के प्रयोगों में कवि ने अपनी विशेष अभिरुचि प्रकट नहीं की है। काव्य में रस भावाभिव्यञ्जन उसका विशेष गुण है जो कि ग्रन्थ में सर्वत्र सामान्य रूप से पाया जाता है। गद्य और पद्य दोनों में ही उन्होंने समास एवं आडम्बर युक्त कोमल, सरस एवं औचित्यपूर्ण पदावली का प्रयोग किया है। विराधगुप्त के सम्भाषण में जो समस्त पदावली दृष्टिगोचर होती है उसमें अपनी ही अलौकिकता है। उनका शब्द-विन्यास ओजमय और कौतूहलपूर्ण है। भावुकता के स्थान पर प्रभविष्णुता अपेक्षाकृत अधिक है। यद्यपि कवि ने अलंकारों का बहुत कम प्रयोग किया है, फिर भी श्लेष अलंकार के प्रयोग कतिपय स्थानों पर दर्शनीय हैं। इस ग्रंथ की रचना भरत मुनि के नाट्य शास्त्रीय नियमों के सर्वथा अनुरूप नहीं हुई। तब भी यह अपने प्रकार का एक अलौकिक ग्रंथ है। इसकी सब से प्रमुख विशेषता यह है कि यह संस्कृत के इतर नाटकों से भिन्न रस-प्रधान न होकर शुद्ध घटना-प्रधान ही है। कूटनीति एवं राजनीति की कुटिल चालों का इसमें सर्वांगपूर्ण सुन्दर एवं सफल चित्रण हुआ है।

विशाखदत्त की भाषा में ओजोमय गद्य का विशेषरूप से समावेश किया गया

है, फिर भी कतिपय स्थानों पर उनकी भाषा में काव्य का लालित्यमय प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।

निम्नलिखित उदाहरण से इस कथन की पुष्टि होती है—

"आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
संध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभय दंष्ट्राम्॥"—मुद्रा० १।८

प्रथम अंक में प्रवेश करने के उपरान्त चाणक्य की यह उक्ति है। वह कहता है,—

"ऐसा कौन वीर है जो पशुराज सिंह के अनुशासन का तिरस्कार कर जमुहाई लेते समय उसके खुले हुए मुख से उसकी दाढ़ उखाड़ लेने का साहस करेगा जो तत्काल ही हाथी के वध करने से उसके रक्त से लाल-लाल शोभावाली और सायंकाल में अरुण वर्ण के चन्द्रमा की कला के समान देदीप्यमान हो रही है।"

चाणक्य की राजनीतिक कुशलता का भी एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

"मुहुर्लक्ष्योद्भेदा, मुहुरधिगमाभावगहना,
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी, मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्भ्रश्यद्बीजा, मुहुरपि बहुप्रापितफले—
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥"
—मुद्राराक्षस ५।३

पंचम अंक में क्षपणक और सिद्धार्थक के चले जाने के पश्चात् भागुरायण का प्रवेश होता है। और वह स्वतः अपने मन में चाणक्य के विषय में यह उक्ति करता है कि "भाग्यचक्र के समान ही एक राजनीतिक पुरुष की नीति एवं गति भी बड़ी विचित्र तथा अगम्य होती है। कार्यानुकूल वह किसी समय अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर देती है और कभी-कभी परिस्थिति वश इसके विपरीत हो उसे अत्यन्त गहन व जटिल भी बना देती है। इसी प्रकार किसी समय वह अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हो

जाती है और किसी समय ऐसी अदृश्य एवं अगम्य हो जाती है कि उसका कारण भी समाप्तप्राय ही प्रतीत होता है। इस प्रकार की चाणक्य की राजनीति किसी समय पर्याप्त इष्टफल की प्रदात्री होती है।" चाणक्य की राजनीति के विषय में कवि ने इस स्थल पर निश्चय ही बड़ी मार्मिक एवं यथार्थ उक्ति की है।

मुद्राराक्षस में नाटकीय औचित्य की दृष्टि से प्रायः काव्य-कल्पनाओं का अभाव ही है। यदि कहीं प्रयोग भी हुआ है तो उसको इस प्रकार का घटना-प्रधान शुद्ध नाटकीय रूप प्रदान किया गया है जिसमें उपमा की अपेक्षा चरित्र-चित्रण की अभिव्यक्ति अधिक प्रकट होती है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"दृष्ट्वा मौर्यमिव प्रतिष्ठितपदं शूलं धरित्र्यास्तले
तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथिनीमुन्मुच्य वध्यस्रजम्।
श्रुत्वा स्वाम्युपरोधरौद्रविषमानाध्माततूर्यस्वनान्
न ध्वस्तं प्रथमाभिघातकठिनं मन्ये मदीयं मनः॥"—मुद्रा० २।२१

द्वितीय अंक में जिस समय विराधगुप्त और राक्षस का वार्तालाप हो रहा था शकटदास और सिद्धार्थक का प्रवेश होता है। उस समय अपने अतीत का स्वगत वर्णन करता हुआ शकटदास कहता है—

अरे! मैं सचेत हूं और क्यों न रहूँ? मैं उस समय भी चेतना-रहित न हो सका जब कि मेरी आँखों के सम्मुख पृथ्वी के हृदय में चुभनेवाले चन्द्रगुप्त के समान ठुका हुआ शूल-दंड यथास्थान खड़ा ही रहा। मेरे गले के चारों ओर हृदय-विदारक चन्द्रगुप्त की राज-लक्ष्मी की तरह मेरे वध की सूचक माला लटक रही है। और कानों में हमारे महाराज के असह्य और भयंकर विनाश के समान असह्य और भयंकर वध की कर्कश एवं कठोर ध्वनियां सुनाई पड़ रही हैं। विपत्ति सहन करते-करते हम यह सब सहने को उद्यत हो गये हैं।

शकटदास का चाणक्य से भयभीत होकर कहने का यह ढंग बड़े ही स्पष्ट रूप से उसकी भावाभिव्यक्ति एवं चाणक्य के प्रति भय का निरूपण करता है। एक उदाहरण निम्नलिखित है—

"कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्य-नीत्या यथा,
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षस-वञ्चनाय यतते जेतुं न शक्नोति च।"—मुद्रा० २।९

द्वितीय अंक में संतप्त राक्षस की दशा का अवलोकन कर प्रवेश करने के उपरान्त कंचुकी कहता है—

सतत राज-सेवा करते हुए राक्षस की स्वामिभक्ति से मेरा लोभ इस प्रकार का प्रतीत होता है मानो वृद्धावस्था द्वारा काम के वेग-रहित होने पर हृदय में प्रतिष्ठित मेरे धर्मभाव को उसी प्रकार दबाना चाहते हुए भी नहीं दबाने में समर्थ हो पाता जिस प्रकार कि चाणक्य की नीति द्वारा नष्ट कर दिये जाने पर पाटलिपुत्र में प्रतिष्ठित होते हुए चन्द्रगुप्त मौर्य को राक्षस तथा उसके साथी नन्द वंश से प्रेरित होते हुए एवं बढ़ावा पाते हुए दमन करने में समर्थ नहीं हो पाते।

चन्द्रगुप्त के विषय में मलयकेतु के प्रति कंचुकी की यह उक्ति विशेष महत्त्व रखती है और सम्राट् के चरित्र के अनुरूप ही प्रमाणित होती है। उक्त दोनों श्लोक यद्यपि काव्य-कल्पना एवं भाव-गाम्भीर्य के उचित उदाहरण नहीं कहे जा सकते, फिर भी उनमें मानवीय भावों की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यञ्जना की गयी है तथा यह नाटकीय औचित्य के सजीव दृष्टांत कहे जा सकते हैं।

विशाखदत्त की नाटकीय कला की भवभूति और कालिदास की कला के साथ तुलना करते हुए प्रोफेसर विल्सन का मत है कि मुद्राराक्षस का रचयिता उन दोनों से ही निम्नकोटि का है। मुद्राराक्षस में कालिदास और भवभूति की कल्पना का लेशमात्र भी परिचय नहीं मिलता। इस नाटक में न तो कोई चमत्कारपूर्ण उक्ति है और न कोई विशेष काव्यमय भावाभिव्यञ्जन ही पाया जाता है। चरित्र-चित्रण ही मुद्राराक्षस में विशाखदत्त की एक मात्र ऐसी अनुपम शक्ति है जो कि नाटक को किसी प्रकार भी हमारी उपेक्षणीय दृष्टि से नहीं बचा पाती। इस विषय में हमारा विचार है कि विशाखदत्त की तुलना इन कवियों के साथ करना उचित नहीं है, क्योंकि विशाखदत्त का काव्यक्षेत्र इन कवियों से सर्वथा भिन्न ही है।

तीनों ही नाटककारों ने अपने-अपने क्षेत्र में विशेष महत्त्व प्रकट किया है। यदि कालिदास और भवभूति कल्पना एवं भावाभिव्यंजना में विशाखदत्त से श्रेष्ठतर हैं तो चरित्र-चित्रण में विशाखदत्त भी उनसे किसी भांति कम नहीं हैं। अतः हमारी सम्मति में किसी एक को दूसरे से निम्नकोटि का समझना उचित नहीं है।

मुद्राराक्षस में चरित्र-चित्रण

परंपरा के अनुसार सभी नाटक रस-प्रधान होते हैं। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस को रस-प्रधान न बना कर शुद्ध चरित्र-चित्रण एवं घटना-प्रधान ही बनाया है और वह इस प्रकार एक नवीन प्रणाली के जन्मदाता भी सिद्ध हुए हैं। नाट्यशास्त्र के प्राचीन नियमानुसार उन्होंने वीर रस को अपने नाटक का प्रधान रस माना है जिसका कि उन्होंने न्यूनाधिक अपने ग्रंथ में सर्वत्र सामान्यतः चित्रण किया है, यद्यपि इस रस का पूर्ण परिपाक न हो सका। एक ऐतिहासिक राजनीतिक घटना के आधार पर लिखे हुए इस नाटक के प्रायः समस्त पात्र अपनी अलौकिक विशेषता प्रस्तुत करते हैं। नाटक के नायक, उसके सहायकों तथा प्रतिनायक और उसके सहायकों के मध्य में जो राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा एवं प्रतिस्पर्धा दृष्टिगोचर होती है वह नाटकीय दृष्टि से रस भावाभिव्यञ्जना के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करती है। नाटक के सभी पात्र इस प्रक्रिया में सहायक हैं। इस ग्रंथ में छोटे-बड़े सब मिला कर २९ पात्रों का चित्रण हुआ है जिनमें चाणक्य, राक्षस और चन्द्रगुप्त का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है।

चाणक्य

समस्त नाटक-साहित्य के अवलोकन करने से विदित होता है कि जिस प्रकार महाकवि विशाखदत्त ने चाणक्य का चरित्र चित्रित किया है वैसा अन्यत्र मिलना दुष्कर है। वह नाटक में एक विशेष व्यक्तिगत चमत्कार है। उसको परमार्थभाव की एक जीवित जाग्रत मूर्त्ति के रूप में चित्रित किया गया है। नाटक में उसकी

जितनी भी क्रियाएं दिखायी गयी हैं वे सभी निस्स्वार्थभाव से राज्याधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के हित में दृष्टिगोचर होती हैं। मौर्य साम्राज्य की समृद्धि व उसकी उन्नति के लिए वह प्रत्येक संभव उपाय को कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील है। इसी कारण हम उसे नाटक के घटनाचक्रों का एकमात्र नियंता एवं नायक मानने को बाध्य होते हैं। अर्थशास्त्र के प्रणेता तथा मुद्राराक्षस के नायक एवं सर्वे-सर्वा, दो रूपों में चाणक्य के चरित्र-चित्रण की तुलना करते हुए एक आश्चर्यजनक भिन्नता का दर्शन होता है। अर्थशास्त्र का नायक जब महा क्रोधी ब्राह्मण है, मुद्राराक्षस में उसको निःस्वार्थ, निरीह एवं लोक-भावना के प्रतीक रूप में चित्रित किया गया है। उसकी यह भावना उसके साधारण जीवन से भी व्यक्त होती है। मौर्य जैसे शक्तिशाली साम्राज्य के सूत्रधार के रूप में भी वह सांसारिक सुखों से अनासक्त हो किस प्रकार का जीवन यापन करता है, निम्नलिखित श्लोक से विदित होता है—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिर्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥
—मुद्रा० ३।१५

इस श्लोक में भ्रमण करने के पश्चात् कञ्चुकी सहसा इधर-उधर देखकर चाणक्य के गृह-वैभव की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

"एक ओर सूखे कन्डे तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा हुआ है तथा दूसरी ओर ब्रह्मचारियों ने कुशों को एकत्र करके ढेर लगा दिया है। छप्पर पर चारों ओर इतनी समिधाएँ सुखायी जा रही हैं कि जीर्ण कुटिया झुकी सी जा रही है और भग्नावशेष दीवारें अपनी जीर्ण-शीर्ण दशा को व्यक्त करती हैं। यह मौर्य साम्राज्य के विधायक अमात्य चाणक्य के घर की दशा है।"

ऐसा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति भी उस समय कितना साधारण जीवन व्यतीत करता था, यह इस श्लोक से विदित होता है। साथ ही यह घटना वर्त्तमान स्वाधीनता के नवराष्ट्र-निर्माण के युग में प्रत्येक शासनाधिकारी को भी अपना जीवन साधारण बनाने के लिए महती प्रेरणा देती है।

आरम्भ से ही चाणवय रंगमंच पर उपस्थित हो जाता है और अपने आत्म-विश्वास की अद्भुद् व्यञ्जना करता है। वह इतना आत्मविश्वासी है कि दैव की गति पर भी विश्वास नहीं करता और यह उसकी दृढ़ धारणा है कि नन्द वंश का विनाशक दैव नहीं अपितु वह स्वयं ही है। चाणक्य अपनी महती आत्मशक्ति एवं अदम्य उत्साहशीलता तथा प्रतिस्पर्द्धा में संसार की महान्तम शक्ति को भी नगण्य ही समझता है। वह राक्षस को भी अपना प्रतिद्वंदी स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि उसकी समस्त चेष्टाएं मौर्य साम्राज्य के हित में ही विहित हैं। नाटक का नायक चाणक्य मनोविज्ञान का भी अद्वितीय वेत्ता है। राक्षस के गुणों को जितना वह समझता और सम्मान करता है उतना सम्भवतः राक्षस स्वयम् भी अपने गुणों को नहीं समझता। चाणक्य की चेष्टाएं राक्षस के विनाश के लिए नहीं होतीं किन्तु उसकी त्रुटियों के संहार एवं उसके चरित्र के सुधार के लिए ही होती हैं। मुद्राराक्षस में चाणक्य के सहायक उसकी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण करते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में जो गुप्तचर और गूढ़ प्रतिनिधि बताये हैं उनकी भी नाटक में चाणक्य के सहायक के रूप में सुंदर व्यञ्जना हुई है। शासन-संचालन को व्यावहारिक रूप प्रदान करने में भी चाणक्य का स्थान उल्लेखनीय है।

राक्षस

यदि चाणक्य इस नाटक का नायक है तो राक्षस प्रतिनायक के रूप में अवश्य विभूषित है। विशाखदत्त ने उसे प्रतिनायक के रूप में नाटक में समाविष्ट कर एक अपूर्व रोचकता का संचार किया है। राक्षस के चरित्र में जो मनुष्य की आशा-निराशा, घात-प्रतिघात आदि द्वंद्वों का चित्र खींचा गया है उससे मानव जीवन की अस्थिरता का सहज ही ज्ञान हो जाता है। चाणक्य भी उसे नन्द-साम्राज्य-संचालिका महती-शक्ति से संपन्न समझता है जिसका विशेष कारण उसकी मुद्रा ही है। यही कारण है कि मुद्रा के अधिकार में आते ही चाणक्य समझता है कि मैंने राक्षस को अपने वशीभूत कर लिया है। यद्यपि वास्तव में चाणक्य के षड्यन्त्रों से राक्षस वशीभूत कर लिया गया था परन्तु नाटक के अन्तर्गत इस घटना का विशेष कारण मुद्रा ही दिखाकर एक अद्भुद् मौलिकता को जन्म प्रदान किया गया है। राक्षस

की पराजय एक आकस्मिक घटना है किन्तु इससे उसके महत्त्व में न्यूनता न आकर महत्ता का ही समावेश होता है। राक्षस की सतत उक्तियों पर ध्यान देने से पता लगता है कि वह समय की परिवर्त्तनशील गति के कारण ही विषम परिस्थिति में पड़ गया। नन्द साम्राज्य के अमात्य जैसे उच्च पद से पृथक् हो जाने से वह साधारण कोटि का व्यक्ति मात्र ही रह गया। चाणक्य जैसे व्यक्ति की प्रतिस्पर्द्धा का पात्र होकर वह संकट-ग्रस्त हो गया। इस विषम परिस्थिति में भी वह तनिक भी उद्विग्न नहीं हुआ और अपने जीवन को गौरवपूर्ण बनाने का सतत प्रयत्न करता रहा। राक्षस एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और उसकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा स्वार्थमय न होकर अपने स्वामी नन्दों के प्रति अनन्य भक्ति की द्योतक हैं।

चाणक्य और राक्षस के व्यक्तित्व की तुलना करने पर विदित होता है कि दोनों ही अपनी-अपनी जगहों में परस्पर एक दूसरे से बढ़कर हैं। चाणक्य में बुद्धि अधिक है तो राक्षस का पराक्रम उससे किसी भांति कम नहीं है। चाणक्य राजनीति-कुशल होते हुए भी राक्षस की दांडायन शक्ति से सर्वथा शून्य है। राक्षस की संग्राम एवं सैन्य-संचालन-शक्ति इतनी प्रबल है कि चाणक्य उसे संग्राम की अपेक्षा कूटनीति द्वारा ही पराजित करना अधिक श्रेयस्कर समझता है। राक्षस का अपने मित्रों एवं सहयोगी जनों पर अटूट विश्वास है जबकि चाणक्य की समस्त शक्तियां उसी के आत्म-विश्वास व एकाकी उसी पर अवलम्बित हैं। इस प्रकार जबकि राक्षस भाग्यवादी है, चाणक्य कट्टर पुरुषार्थवादी है। यही कारण है कि राक्षस को मुँह की खानी पड़ती है और चाणक्य सफल होता है। अपेक्षाकृत चाणक्य के अनुचर व साथी उसके अधिक सहायक हैं।

उसके सहायकों में चंदनदास मित्रता निभाने के लिए अपने प्राणों का भी संकट झेलता है। अन्य अनुचरों की फूट एवं संदेह के साथ-साथ चन्दनदास का स्नेह-बंधन-निर्वाह भी उसके पतन का कारण है। इन सब घटनाओं के होने पर भी हमें मानना पड़ेगा कि राक्षस नाटक का एक महान् पात्र है और अपनी अलौकिक विशेषता रखता है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य इस नाटक के नायक नहीं कहे जा सकते। नाटककार ने

अपने नाटक की समस्त घटनाओं का केन्द्र उनको अवश्य बनाया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में जिस आदर्श राज राजेश्वर की कल्पना की गयी है उसी को मुद्राराक्षस में यथार्थ रूप से प्रकट करने का प्रयास किया है। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त के लिए वृपल शब्द का प्रयोग हुआ है जिसके आधार पर कतिपय विद्वानों ने उन्हें शूद्र कुलोत्पन्न मान लिया है । परन्तु हम इस विवाद में न पड़ते हुए नाटककार का तात्पर्य समझने का प्रयत्न करें तो विदित होगा कि उसका अभिप्राय यहां "राज्ञां वृषः वृषलः राजराजेश्वरः" से है । उसी के पराक्रम एवं निरीक्षण में चाणक्य अपनी नीति एवं पराक्रम को सफल बनाने का प्रयत्न करता है ।

कतिपय आलोचकों का मत है कि विशाखदत्त ने जिस चन्द्रगुप्त का चित्र अपने नाटक में अंकित किया है उसका व्यक्तित्व मौर्य सम्राट् के अनुरूप नहीं है। परन्तु हम यदि चन्द्रगुप्त को नाटककार के दृष्टिकोण से देखें तो हमें उसकी कुछ ऐसी अलौकिक विशेषताएं विदित होंगी जो कि इतिहास जानना या समझना नहीं चाहता। यद्यपि नाटक में उसके विजयी मौर्य सम्राट् के रूप में दर्शन नहीं होते, मौर्य साम्राज्य के सफल संचालक, नियंता एवं आदर्श राज्य-व्यवस्था के प्रचारक के रूप में उसका पर्याप्त सफलता के साथ चित्रण किया गया है।

मुद्राराक्षस नाटक की मौलिकता पर ध्यान देने से विदित होता है कि नाटक में राजनीतिक घटनाचक्र के समावेश करने में उस पर संस्कृत के प्राचीन नाटककार महाकवि भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण ग्रंथ का विशेष प्रभाव पड़ा। सम्राट् महाकवि शूद्रक की रचना मृच्छकटिक की सामाजिक व्यवस्था के चित्रण करनेकी प्रणाली ने भी नाटक पर यथेष्ट प्रभाव डाला। उसमें घटनाओं की एकाग्रता दर्शनीय है। अंकों को दृश्यों में विभक्त कर एक नवीन मौलिकता का श्रीगणेश हुआ है । पूर्ववर्ती रूपकों में अंक के आदि से अंत तक मुख्य पात्र के अस्तित्व की विद्यमानता रहती है परन्तु विशाखदत्त ने यह विभाजन कर अपूर्व रोचकता का संचार किया है। नाटक में स्त्री-पात्रों का नितांत अभाव है। केवल एक स्थान पर सप्तम अंक में चंदनदास की पत्नी का रंगमंच पर आनयन होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि मुद्राराक्षस के अतिरिक्त विशाखदत्त ने देवी चन्द्रगुप्त और राघवानंद दो और नाटकों की रचना की है। देवी चन्द्रगुप्त में वर्णन है कि

उत्तर कालीन गुप्त वंशज रामगुप्त ने अपने बड़े भाई चन्द्रगुप्त का वध कर अपनी भाभी ध्रुव देवी से विवाह किया और स्वयं राज्य का अधिपति बन गया। इस प्रकार की कथा विशाखदत्त द्वारा रचित प्रतीत नहीं होती। राघवानंद अब अप्राप्य है, अतः उसके विषय में निर्णय करना संभव नहीं है।

१३. भट्ट नारायण

(सातवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्द्ध)

वेणीसंहार महाकवि भट्ट नारायण की एकमात्र कृति है। जैसा कि हमारे देश के साहित्यकारों की परम्परा है, वे अपने जीवन के विषय में किञ्चिन्मात्र भी प्रकाश नहीं डालते। भट्ट नारायण ने भी इसी परंपरा का पूर्णतया पालन किया है, जिस कारण हमें उनके व्यक्तिगत जीवन, निवास-स्थान आदि के विषय में बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त हुई है। कुछ इतिहास-वेत्ताओं का मत है कि आप आरम्भ में कान्यकुब्ज (आधुनिक कन्नौज) में निवास करते थे किंतु कालांतर में विषम परिस्थिति वश बंगाल में जाकर बस गये। भट्ट एवं मृगराज आपकी दो उपाधियां थीं जिस कारण आपका वर्ण भी संदिग्ध हो गया है। भट्ट शब्द ब्राह्मणत्व का एवं मृगराज शब्द क्षत्रियत्व का द्योतक है। एक किंवदन्ती के अनुसार आप एक ब्राह्मण गौड़ परिवार के संस्थापक भी थे। कुछ विद्वानों का यह मत है कि आप आधुनिक टैगोर वंश के पूर्वजों में से थे यद्यपि इस धारणा के पक्ष में निश्चित प्रमाणों का सर्वथा अभाव ही है।

आपका समय निर्धारित करने के लिए भी हमें केवल अनुमान और कल्पना का ही आश्रय लेना पड़ता है। भट्ट नारायण बंगाल के किसी राजा के आश्रित राजकवि थे जो आठवीं शताब्दी ई० के पालवंशीय नरेशों के पूर्ववर्ती थे। इस आधार पर विद्वानों का कथन है कि वे ७०० ई० के लगभग प्रादुर्भूत हुए होंगे। इस कथन की पुष्टि कुछ अन्य अप्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा भी होती है। वेणीसंहार सदा से ही संस्कृत साहित्य में एक लोकप्रिय नाटक रहा है। यही कारण है कि परवर्ती साहित्यकारों ने इस ग्रंथ के अनेकानेक उद्धरण अपनी कृतियों में समाविष्ट किये हैं जिनमें मम्मट (सन् ११०० ई०), धनंजय (सन् १००० ई०), आनंदवर्द्धन

(सन् ८५० ई०) एवं वामन (सन् ८०० ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाकवि भवभूति संस्कृत साहित्य के अमर कलाकार हैं। संभवत: भट्ट नारायण भवभूति के समकालीन ही हों और संस्कृत साहित्य के चर्मोत्कर्ष के युग को सुशोभित करते रहे हों।

वेणीसंहार का कथानक

वेणी-संहार का कथानक महाभारत से उद्धृत है। कौरवों की सभा में दु:शासन ने द्रौपदी का चीर हरण करते हुए उसका घोर निरादर किया। भीम ने प्रण किया कि मैं दुर्योधन की जंघाओं को अपनी गदा द्वारा अवश्य तोड़ूँगा। द्रौपदी भी अपमान के प्रतिकारस्वरूप यह प्रतिज्ञा करती है कि वह भीम की इस प्रतिज्ञा की पूर्त्ति होने के समय तक अपने केशों को उन्मुक्त ही रखेगी।

प्रथम अंक में प्रस्तावना के उपरांत भीम और सहदेव में वार्त्तालाप संलापित होता है। भगवान् कृष्ण उभय पक्ष में समझौता करवाने के उद्देश्य से दुर्योधन के समीप जाते हैं जब कि वे दोनों ही उनके आगमन की प्रतीक्षा करते हुए होते हैं। भीम कौरवों द्वारा किये हुए अपकार का प्रतिकार करने का दृढ़ निश्चय कर चुके थे। यदि युधिष्ठिर इसके पूर्ण होने के पूर्व ही संधि का प्रस्ताव प्रस्तुत करेंगे तो भीम उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने को बाध्य होंगे। सहदेव अपने ज्येष्ठ भ्राता के दु:ख को शांत करने का प्रयत्न करते हैं। द्रौपदी को भी इसी अवसर पर अपनी परिचारिका से दुर्योधन-पत्नी भानुमती द्वारा अपमानजनक शब्द कहने की सूचना मिलती है जो कि भीम के उग्र क्रोध को और भी उत्तेजित कर देती है। इसी समय कृष्णागमन होता है जो कि दुर्योधन को समझाने में असमर्थ होने के उप-रान्त उसी समय लौटते हैं। इस अवस्था में युद्ध अवश्यम्भावी है और द्रौपदी अपने पतियों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करती है।

द्वितीय अंक के प्रारम्भिक दृश्य में भानुमती एक महा भयावह स्वप्न देखती है--एक नकुल (नेवला) सौ सर्पों का वध करता है जो पांडवों में वीर नकुल द्वारा सौ कौरवों के भावी नाश का सूचक हो सकता है। जागने पर भानुमती अपने स्वप्न का समस्त वृत्तांत अपने पति से प्रकट करती है। पहले तो कुरुराज इस

स्वप्न की भावी आशंका को नहीं समझ पाता किंतु तनिक चिन्तन के अनन्तर ही भयभीत एवं उद्विग्न हो जाता है। तत्पश्चात् पति-पत्नी में श्रृंगारिक कथनोपकथन होता है और दुर्योधन भानुमती को सांत्वना प्रदान करता है। इसी अवसर पर उन लोगों के मध्य में जयद्रथ की माता का भीत दशा में प्रवेश होता है जो कि पांडवों के आतंक से घबरायी हुई है। तत्काल ही दुर्योधन द्रौपदी के प्रति किये गये अपमान का स्मरण कर प्रसन्नता प्रकट करता है और पांडवों की सामरिक शक्ति की विडंबना करता है। प्रस्तुत अंक के अंत में युद्ध के लिए तत्पर हो रथारूढ़ भी हो जाता है।

तृतीय अंक के आरंभ में एक राक्षस एवं राक्षसी का परस्पर भयातुर दशा में संवाद दिखाया गया है। युद्ध में हताहत योद्धाओं के मांस तथा मज्जा से ही इस दम्पति की उदर-पूर्ति होती है। घटोत्कच का रणभूमि में प्राणान्त हो जाता है जिसके कारण उसकी माता हिडंबा शोकाकुल हो जाती है। उसी समय द्रोणाचार्य के वध की सूचना भी मिलती है। गुरु तेज की सजीव प्रतिमा थे तथा बिना छल किये उन पर विजय प्राप्त करना असंभव था। युधिष्ठिर द्वारा अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का मिथ्या समाचार अवगत कर वह शस्त्र त्याग देते हैं और धृष्टद्युम्न इस नृशंस कृत्य में सफल होते हैं। अपने पिता की छलपूर्वक मृत्यु की सूचना पाकर अश्वत्थामा शोक-जनित क्रोध के वेग से उद्दीप्त हो जाता है। कृपाचार्य अश्वत्थामा को सान्त्वना प्रदान करते हुए परामर्श देते हैं कि वह दुर्योधन से अपने आप को युद्ध में चमत्कार दिखलाने के हेतु किसी उचित पद पर आसीन होने के लिए प्रार्थना करे। तभी कर्ण का आनयन होता है। कर्ण दुर्योधन को द्रोणाचार्य की मृत्यु की सूचना देते है और कहते हैं कि पुत्र के निधन का मिथ्या समाचार सुनकर द्रोण ने अपना जीवन निष्प्रयोजन समझ रण में अस्त्र त्याग कर दिया। कृपाचार्य और अश्वत्थामा भी कर्ण और दुर्योधन के समीप पहुंचते हैं और अश्वत्थामा के उचित पद पर अभिषिक्त होने की चर्चा होने लगती है। दुर्योधन ने कर्ण को पहले ही वचन दे रखा था। अतः अश्वत्थामा को वह पद प्रदान करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हुआ। फल यह हुआ कि कर्ण और दुर्योधन के मध्य में वाक् कलह उत्पन्न हो गया। यह कलह अपना प्रचंड रूप धारण करने वाला ही था कि

अकस्मात् भीम तथा दु:शासन के संग्राम की उन्हें सूचना मिली जिसमें भीम दु:शासन का वध करने के उपरांत उसके वक्षस्थल से रक्त पान करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। दुर्योधन, कर्ण और अश्वत्थामा तीनों ही संग्राम में दु:शासन के सहायतार्थ जाने को उद्यत होते हैं। उनके रण-संग्राम में अवतरित होने के पूर्व ही भीम दु:शासन का वध कर अपनी एक प्रतिज्ञा पूर्ण करते हैं। इस प्रकार कौरव शोक करते ही रह जाते हैं, यद्यपि इस अंक में दुर्योधन को इस वध की सूचना नहीं मिली।

चतुर्थ अंक में दुर्योधन विक्षिप्त दशा में चित्रित किया गया है। कौरवों के लिए महती विपत्ति स्वरूप दु:शासन की हत्या एवं भीम की प्रतिज्ञा-पूर्ति की उसे सूचना मिलती है और वह शोक एवं क्रोध से व्याकुल हो उठता है। कुछ समयोपरान्त एक दूत का प्रवेश होता है जो दुर्योधन को कर्ण के पुत्र वृषसेन की रणस्थल में हत्या की हृदय-विदारक सूचना देता है। कर्ण के रक्त से लिखा हुआ एक पत्र भी प्रस्तुत किया जाता है जिसमें कर्ण दुर्योधन की सहायता के लिए प्रार्थना करता है। वीरों की भांति दुर्योधन भी रण-क्षेत्र में प्रस्थान करने के लिए उद्यत होता है। तत्काल ही उसके पिता धृतराष्ट्र, माता गांधारी एवं संजय का आगमन होता है जिस कारण दुर्योधन का युद्ध-क्षेत्र के लिए प्रस्थान रुक जाता है।

पांचवें अंक में धृतराष्ट्र और गांधारी अपने पुत्र दुर्योधन को युद्ध शान्त कर पांडवों से संधि करने का परामर्श देते हैं। कारण स्पष्ट है। कौरव सेना के समस्त उच्च कोटि के वीर योद्धा वीर गति को प्राप्त कर चुके हैं तथा एकमात्र दुर्योधन के जीवित रहने से शत्रु की प्रतिज्ञा अपूर्ण है। दुर्योधन ऐसा करना कायरता समझता है और अपने माता-पिता की आज्ञा न मानने के लिए बाध्य होता है। इसी अवसर पर भीम और अर्जुन का प्रवेश होता है तथा वे दुर्योधन को संग्राम के लिए ललकारते हैं। अश्वत्थामा भी तभी उपस्थित हो जाता है तथा पांडवों द्वारा कौरवों के विनाश का स्मरण कर क्रोधयुक्त वीरतापूर्ण उक्ति करता है।

षष्ठ अंक में कथानक अत्यन्त रोचक है। अपने समस्त कुटुम्बियों के रणक्षेत्र में वध किये जाने के अनंतर दुर्योधन भय एवं कार्पण्य के वशीभूत होकर प्राणरक्षार्थ एक सरोवर में डुबकी लगा कर छिप जाता है। महाराज युधिष्ठिर आज्ञा

देते हैं कि दुर्योधन की खोज सावधानी से की जाये तथा प्रत्येक संभव उपाय को कार्य में लाया जावे। कुछ ही देर के अनंतर पांचालक नामक एक चर दुर्योधन की मृत्यु की सूचना इस प्रकार देता है—

अर्जुन और भीम द्वारा दुर्योधन के खोजने का बहुत प्रयत्न करने पर भी वह न मिला। एक सरोवर के समीप किसी व्यक्ति के जाने के पद-चिह्न अंकित थे किन्तु वापस होने के न थे। अतः उसमें दुर्योधन के होने की आशंका से भीम ने उसे ललकारा और जल को कल्लोलित किया। तभी दुर्योधन जल के बाहर निकला और उसको भीम ने पकड़ कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

यह वृत्तांत ज्ञात होने के थोड़ी ही देर अनंतर एक चार्वाक का आगमन होता है जो संग्राम का वृत्तांत अन्यथा ही बतलाता है। उसके कथनानुसार दुर्योधन भीम का वध कर चुका है। यह हृदयविदारक सूचना पाकर दोनों द्रौपदी व युधिष्ठिर प्राणान्त करने का निश्चय करते हैं। वे ऐसा करने ही वाले थे कि सहसा बाहर से एक ध्वनि आती है। द्रौपदी दुर्योधन की आशंका से भयभीत हो जाती हैं। अकस्मात् भीम आकर उसको पकड़ लेते हैं और अपनी प्रतिज्ञानुसार दुर्योधन का विनाश करने के उपरान्त उसके निकलते हुए उष्ण रक्त से द्रौपदी की वेणी का संहार करते हैं। तदुपरान्त उन सब का शेष जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है।

वेणीसंहार नाटक के उपर्युक्त कथानक पर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि भट्ट नारायण ने अपनी रचना को लोकप्रिय बनाने के हेतु महाभारत की कथा में अनेकानेक मौलिक परिवर्तन किये जिससे उनकी काव्य-चातुरी और नाट्यकुशलता व्यक्त होती है। वेणीसंहार एक अद्भुद् नाटक है जिसके नायक का प्रश्न भी विवादास्पद एवं संदिग्ध है। विभिन्न विद्वान् अपनी योग्यतानुसार युधिष्ठिर, दुर्योधन और भीम को इस रचना का नायक मानते हैं और अपना पृथक् तर्क उपस्थित करते हैं। युधिष्ठिर को नायक मानने वाला विचार उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उनका कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित है, यद्यपि वह पांडवों के ज्येष्ठ भ्राता के रूप में उनकी समस्त शक्तियों के केन्द्र हैं।

नायक के सम्बन्ध में मतभेद

भीम और दुर्योधन को ही नायक मानने के विषय में मुख्य मतभेद है। हमें विचार करना है कि इन दोनों पुरुषों में से हम किसे नायक मानें। इस विवाद में पड़ने के पूर्व वेणीसंहार शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना आवश्यक है जो कि टीकाकारों ने दो प्रकार से की है जिसका रूप निम्नलिखित है—

"वेण्या लम्बमान-जटीभूतद्रौपदीकेश-विशेषेण संहारो दुर्योधनादीनां कौरवाणाम् विनाशो यत्र तत्।" अर्थात् लम्बे और घने द्रौपदी के केशों के खींचने रूप अपमान के प्रतिकार स्वरूप दुर्योधन आदि कौरवों के विनाश का वर्णन है जिस नाटक में वह वेणीसंहार है।

द्वितीय विग्रह इस प्रकार है "वेण्या असंस्कारजड़ीभूतानां द्रौपद्याः केशाणां संहारः मोक्षणं यत्र तत् वेणीसंहारम्।" अर्थात् अपमानित द्रौपदी के जटिल केशों का संहार, मोक्ष या उचित रीति से संवारना, बांधना आदि क्रिया के उद्देश्य से नाटक की रचना की गयी है।

प्रथम विग्रह के अनुसार दुर्योधन व अन्य कौरवों का विनाश नाटक की मुख्य घटना है। द्वितीय विग्रह का तात्पर्य यह है कि द्रौपदी द्वारा कौरवों के विनाश पर्यन्त अपने केशों को खुला रखने तथा दुर्योधन के रक्त से उन केशों को संस्कृत करके भीम द्वारा उनके बंधवाने की घटना को लक्ष्य में रखकर नाटक की रचना की गयी है।

इस प्रकार वेणीसंहार शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार-पूर्वक ध्यान देने से प्रकट होता है कि दुर्योधन का वध एवं द्रौपदी के केशों का बांधना नाटक की मुख्य घटना है। उन दोनों घटनाओं का ही भीम प्रधान अधिष्ठाता है। इस आधार पर भीम को ही नाटक के नायक-पद पर आसीन करना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। नाम में उद्दिष्ट व्यक्ति को ही यह पद क्यों दिया जाय? दुर्योधन भी इस रचना में निरंतर पाठकों के हृदय में उपस्थित रहता है। भीम और दुर्योधन का जैसा चित्र नाटककार ने खींचा है उसकी तुलना करने पर उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रकट हो जाती है।

प्रथम अंक में भीमसेन को दासी से भानुमती द्वारा द्रौपदी का निरादर करने की सूचना मिली जिस पर भीम ने क्रुद्ध होकर दुर्योधन के विनाश का प्रण किया—

"चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥"

—वेणी० १।२१

यह भीम की द्रौपदी के प्रति उक्ति है। वे कहते हैं—

शीघ्र ही मैं भीमसेन फड़कती हुई भुजाओं से घुमा कर फेंकी हुई गदा के आघात से दुर्योधन की जंघाओं को चूर्ण करके उसके खूब दृढ़ता से चिपके हुए गाढ़े-गाढ़े रुधिर से अपने हाथ लाल करके तुम्हारे इन खुले हुए बालों को सँवारूँगा।

यह श्लोक समस्त नाटक का बीजमंत्र है। आगामी समस्त घटनाएं भीम की उपर्युक्त प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए ही लिखी गयी हैं। भीम की इस प्रतिज्ञा से उनमें क्षत्रियोचित गुणों की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है। भानुमती द्वारा द्रौपदी का अपमान चेटी द्वारा ज्ञात कर भीमसेन ने उपर्युक्त प्रण किया है तथा वीरों की भांति अंत में इस प्रण को पूर्ण भी किया है। अब तनिक दुर्योधन की गति पर भी विचार कीजिए। नाटक के अन्तर्गत ही उसे गुरु द्रोण, भ्राता दुःशासन एवं वृषसेन की रण-स्थल में हत्या के दुःखद समाचार प्राप्त होते हैं। ऐसे विषादपूर्ण समाचारों को सुन कर दुर्योधन क्रोध एवं वीरतापूर्ण उक्ति अवश्य करता है एवं रणक्षेत्र में जाने के लिए तत्पर होता है पर ऐसी विनाशकारी सूचनाओं को प्राप्त कर भी वह पांडवों के संहार के लिए न कुछ प्रण करता है और न उसे पूर्ण करता है, यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी अनेक उक्तियां वीर रस से पूर्ण हैं जो कि वेणीसंहार जैसे वीर-रस-प्रधान नाटक के लिए सर्वथा उपयुक्त हो सकती हैं।

भीमसेन का चरित्र आदि से अन्त तक उज्ज्वल व वीरतापूर्ण प्रदर्शित किया

गया है। किसी भी स्थान में उन्होंने संग्राग से भय नहीं दिखाया। नाटक के आरम्भ से पांचवें अंक के अन्त पर्यन्त दुर्योधन की समस्त उक्तियां व कार्य उसके अनुरूप हो सकते हैं। छठे अंक के प्रारंभ में ही हमें ज्ञात हो जाता है कि दुर्योधन अपने समस्त सहायक व बांधवों के युद्ध में मारे जाने के पश्चात् एक सरोवर में छिप कर अपने प्राणों की रक्षा कर रहा है। इस विषय में अब हमें तनिक विचार करना चाहिए कि उस जैसे वीर क्षत्रिय के लिए ऐसा करना कहां तक उचित है। भीमसेन को अपने समीप संग्रामार्थ उपस्थित देख कर भी वह सरोवर से निकल उसके सम्मुख उपस्थित नहीं होता। जब भीम गर्वोक्ति करता है तभी वह उससे गदा-युद्ध करने के लिए बाध्य होता है। ऐसा कायरता-युक्त कार्य करनेवाला कदापि श्लाघनीय नहीं कहा जा सकता।

कुछ विद्वानों का मत है कि वेणीसंहार के नायक का पद ग्रहण करने के लिए भीमसेन की अपेक्षा दुर्योधन अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उनका कथन है कि दुर्योधन वीरता एवं आत्मसम्मान की जाग्रत मूर्त्ति है। वह एक स्नेही भ्राता, विश्वस्त मित्र एवं कट्टर योद्धा है। हम कहेंगे कि भीमसेन की वीरता संग्राम के स्थल में एवं ओजस्वी वाणी दोनों में ही प्रस्फुटित होती है, जब कि दुर्योधन केवल बातों से ही अपनी वीरता प्रकट करता है। संग्राम में अपना कोई विशेष कौशल प्रदर्शित करने में वह सर्वथा असमर्थ ही रहता है।

द्वितीय अंक में दुर्योधन तथा उसकी पत्नी भानुमती के साथ परस्पर शृंगारिक कथनोपकथन प्रदर्शित किया गया है। दुर्योधन का दुःखान्त विनाश चित्रित करना ही नाटककार का मुख्य उद्देश्य है। ऐसे समृद्धिशाली व्यक्ति का विनाश चित्रित कर कवि ने दैव की परिवर्तनशील गति को प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। अधःपतन की ओर जाता हुआ दुर्योधन वीररस की उक्तियों में यद्यपि किसी प्रकार भी कम नहीं है, पर जीवन के अंतिम दिनों में किंचिदपि चमत्कार एवं पुरुषत्व न दिखाने से उसे आत्मसम्मान एवं वीरता की जाग्रत मूर्त्ति समझना उचित प्रतीत नहीं होता। नाटक के अन्त में हम अनुभव करते हैं कि महाराज युधिष्ठिर भीमसेन के संग्राम में मिथ्या वध की सूचना मात्र पाकर प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत हो जाते हैं। वह सूचना की सत्यता का निर्णय करने का भी प्रयत्न नहीं करते। दूसरी ओर

दुर्योधन के स्नेही भ्रातृत्व पर भी तनिक विचार कीजिए। वह अपने प्राणों से भी प्रिय भ्राता दुःशासन के निधन पर उद्विग्न होता है और भीम के विनाश की इच्छा मात्र करता है। इस प्रकार हम युधिष्ठिर एवं दुर्योधन के भ्रातृप्रेम की तुलना करते हुए कह सकते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर तथा कौरवराज दुर्योधन के भ्रातृप्रेम में भूमि-आकाश का अन्तर था। उपर्युक्त तथ्य पर विचार करने के पश्चात् पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि दुर्योधन को स्नेही भ्राता तथा वीरता एवं आत्मसम्मान की जाग्रत मूर्त्ति समझना कहां तक उचित है?

उपर्युक्त पंक्तियों में वेणीसंहार के नायक के विवादास्पद प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। भीम की शूरवीरता, ओज एवं प्रतिज्ञापालन की दृढ़ शक्ति को देखते हुए हम दुर्योधन की अपेक्षा उन्हें ही नायक मानने के लिए बाध्य होते हैं। हां, यदि भीमसेन नायक हैं तो दुर्योधन भी अपने अद्वितीय गुणों के कारण प्रतिनायक अवश्य कहा जा सकता है।

काव्य का अद्वितीय चमत्कार

वेणी-संहार एक वीर-रस-प्रधान नाटक है जिसमें स्थान-स्थान पर नायक तथा प्रतिनायक भीमसेन और दुर्योधन की वीरतायुक्त उक्तियों का समावेश किया गया है। प्रधान वीर रस के साथ कवि ने उपयुक्त स्थानों पर करुण, शृंगार एवं शान्त रस का उचित प्रयोग कर नाटक की शोभा को द्विगुणित कर दिया है। प्रथम अंक में जिस समय भीमसेन ने सुना कि उनके ज्येष्ठ भ्राता महाराज युधिष्ठिर पांच गांव लेकर संधि का प्रस्ताव कर रहे हैं उस समय उन्होंने वीर रस मय बड़े ही ओजस्वी शब्दों में इस प्रकार गर्वोक्ति की—

"मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरुम्
संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥"—वेणी० १।१५

क्या मैं दुर्दम्य क्रोध के कारण धृतराष्ट्र के सौ कौरव पुत्रों का रणक्षेत्र में

वध नहीं करूंगा ? अवश्य करूंगा। दु:शासन की हत्या के उपरान्त क्या मैं उसके वक्ष:स्थल से निकलते हुए उसके उष्ण रक्त का पान नहीं करूंगा ? अवश्य करूंगा। दुर्योधन की जंघाओं को क्या मैं अपनी गदा से चूर्ण-चूर्ण नहीं करूंगा ? अवश्य करूंगा। आप लोगों के स्वामी महाराज युधिष्ठिर अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी शर्त पर कौरवों से सन्धि करें, किन्तु मैं ऐसा करने को किसी भांति उद्यत नहीं हो सकता। इस श्लोक के प्रत्येक शब्द से भीमसेन की वीरता टपकती है। वे अपने आत्म-सम्मान एवं पौरुष के कारण अपने ज्येष्ठ भ्राता तक की अवज्ञा करने को तत्पर हो जाते हैं।

जीवन के अंतिम भाग में दुर्योधन पांडवों से भयभीत हो एक सरोवर में जा छिपा। भीमसेन को युक्तिपूर्वक दुर्योधन की गति विदित हो गयी। वे उस छिपे हुए कायर के समीप पहुंचे तथा उसे ललकारते हुए सर्वथा अपने ही अनुरूप वाणी में बोले—

"जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे॥"—वेणी० ६।७

हे मनुष्यों में पशु के समान दुष्ट दुर्योधन! आज तू पतन की अधोगति की चरम सीमा पर पहुंच कर भी पवित्र चंद्रवंश में अपना जन्म हुआ बताता है। तू अब तक गदा भी धारण किये हुये है। दु:शासन के उष्ण रक्त के समान मदिरापान के कारण मदमस्त भीमसेन को तू अब भी शत्रु ही समझता है। मधु एवं कैटभ जैसे भयंकर राक्षसों का वध करनेवाले योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उद्दण्ड भाव से आचरण करता है। हे दुर्योधन! तू मेरे भय से इस सरोवर में आकर क्यों छिपा है ? यदि तेरी भुजाओं में किंचित् मात्र भी बल एवं पौरुष हो तो संग्राम के लिए उद्यत हो जा।

दुर्योधन के अतीत का उसे स्मरण कराने का तथा अंत समय में क्षत्रियों के विरुद्ध आचरण करने पर भीमसेन का उसको धिक्कारने का सचमुच ही यह अनुपम

ढंग है। दुर्योधन यद्यपि संग्राम में किंचिदपि चमत्कार नहीं दिखाता, उसकी वाणी में वीर रस की अनुपम झलक दृष्टिगोचर होती है। वह अपने को अतुल बल की राशि समझता है और अपनी माता गांधारी से अपने बल की पांडवों के बल से तुलना करता हुआ कहता है—

"धर्मात्मजं प्रति यमौ च कथैव नास्ति
मध्ये वृकोदरकिरीटभृतोर्बलेन।
एकोऽपि विस्फुरितमण्डलचापचक्रं
कः सिन्धुराजमभिषेणयितुं समर्थः॥"—वेणी० २।२६

हे परम पूजनीया माता जी! महा पराक्रमी जयद्रथ के बल के समक्ष धर्मपुत्र युधिष्ठिर एवं नकुल व सहदेव का तो कहना ही क्या है। अत्यधिक भोजन करने के कारण भेड़िये के समान उदर वाले भीमसेन तथा पराक्रमी अर्जुन भी अकेला मुझ जैसे तुम्हारे वीरपुत्र के समान बलशाली और युद्ध में सतत चमकते हुए तीक्ष्ण बाण चलाने के कारण गोल धनुष वाले जयद्रथ के विरुद्ध संग्राम नहीं कर सकता।

इस श्लोक में भट्ट नारायण ने जयद्रथ का महत्त्व बताते हुए दुर्योधन के स्वाभिमान का भी अद्भुत् चित्रण किया है। इस ग्रंथ में भीम, दुर्योधन तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा की वीरतामय उक्तियां संस्कृत साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। अपने पूज्य पिता गुरु द्रोणाचार्य के निधन का समाचार सुन अश्वत्थामा शोकविह्वल हो गया। शोक के साथ-साथ उसमें वीरता का भी अदम्य उत्साह उमड़ आया जैसा कि पिता के हत्यारे धृष्टद्युम्न के प्रति उसकी उक्ति से पता चलता है। भीष्म और द्रोण के निधन के उपरांत धृतराष्ट्र अपने प्रिय पुत्र दुर्योधन को संग्राम त्यागने के लिए इस प्रकार समझा रहे हैं—

"दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ भीष्मद्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत्फाल्गुनात्।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना
मानं वैरिषु मुञ्च तात पितरावन्धाविमौ पालय॥"—वेणी० ५।५

हे प्रिय पुत्र दुर्योधन ! जिन महापराक्रमी भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य के समक्ष पांडवों की शक्ति की हम किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं किया करते थे वे दोनों ही संग्राम में मारे जा चुके हैं। कर्ण के देखते-देखते ही उसके सामने ही अर्जुन ने उसके प्रिय पुत्र वृषसेन की मार्मिक हत्या कर डाली है। इस प्रकार समस्त संसार उसके आतंक से भयभीत हो रहा है। मेरे अन्य पुत्रों का वध हो चुका है। केवल तेरे मात्र ही जीवित रहने से शत्रु की प्रतिज्ञा अपूर्ण है। अतः शत्रु के प्रति गर्व का त्याग कर संधि कर लो और अपने इन अंधे माता-पिता का विधिपूर्वक पालन करो।

धृतराष्ट्र की दुर्योधन के प्रति यह उक्ति सचमुच करुण रस का एक अमूल्य उदाहरण है तथा वृद्धावस्था में आपत्तिग्रस्त माता-पिता की स्वाभाविक मनोकामना व्यक्त करती हे। शृंगार रस के एक रोचक उदाहरण का निरीक्षण करें। द्वितीय अंक में अपनी क्रुद्ध एवं संतप्त पत्नी भानुमती को लक्ष्य कर दुर्योधन कहता है—

किं कण्ठे शिथिलीकृतो भुजलतापाशः प्रमादान्मया ?
निद्राच्छेदविवर्तनेष्वभिमुखी नाद्यासि सम्भाविता ?
अन्यस्त्रीजनसङ्कथालघुरहं स्वप्ने त्वया लक्षितो ?
दोषं पश्यसि कं ? प्रिये, परिजनोपालम्भयोग्ये मयि ॥

— वेणी० २।९

हे प्रिये भानुमति ! क्या मैंने भूल कर भी कभी आलस्यवश तुम्हारे गले में अपना भुजलता-पाश ढीला किया है ? निद्रा के उपरान्त जागने पर क्या आज मैंने करवट लेने पर तुमको अपने सम्मुख नहीं किया ? क्या स्वप्न में भी तुमने अन्य स्त्री के साथ मुझे अनुचित वार्तालाप करते देखा है ? तुमने मेरा कौन सा दोष देखा है जिसके कारण अपनी अप्रसन्नता व्यक्त कर रही हो।

यह शृंगार रस का सुन्दर उदाहरण है जिसमें पति-पत्नी के प्रेम का बहुत ही स्पष्ट शब्दों में निरूपण किया गया है। एक ओर जहां श्लोक में शृंगार रस की पराकाष्ठा विद्यमान है, वहाँ दूसरी ओर शान्त रस का भी अनुपम चित्र खींचा गया है, जिसका उदाहरण निम्नलिखित है—

"आत्मारामाऽऽविहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्...
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम्॥"

—वेणी० १।२३

योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण के दुर्योधन को समझाने के उपरान्त असफल लौटने पर भीमसेन की दुर्योधन के चरित्र के विषय में यह उक्ति है। सात्विक भाव से युक्त अपनी आत्मा में ही सदा रत रहनेवाले, निर्विकल्पक समाधि में सदा प्रीति लगानेवाले तथा ज्ञान-प्रकाश के बाहुल्य से अज्ञानांधकार को समूल नष्ट करनेवाले सिद्ध योगी एवं मुनिजन जिस परम शक्ति को प्रकाश तथा अंधकार से परे कोई अनिर्वचनीय तत्त्व समझते हैं उस पुरातन परब्रह्म भगवान् कृष्ण को अज्ञान और मोह के वशीभूत दुर्योधन क्या पहिचाने।

यह श्लोक शांतरस का एक अमूल्य उदाहरण है। इस प्रकार हमने देखा कि वेणीसंहार संस्कृत नाटक-साहित्य में एक गौरवमय पद को सुशोभित करता है। इसमें प्रयुक्त वीर, करुण, शृंगार एवं शान्त रस द्वारा काव्य का अद्वितीय चमत्कार प्रकट होता है। इस ग्रंथ की रचना सर्वथा नाट्य शास्त्र के नियमों के अनुकूल हुई है जिस कारण दशरूपककार धनंजय को रूपक के विभिन्न अंगों को प्रदर्शित करने में इस ग्रंथ में प्रयुक्त पद्यों से अत्यधिक सहायता मिली है।

द्वितीय अंक में दुर्योधन तथा उसकी पत्नी भानुमती में परस्पर शृंगारिक कथनोपकथन का समावेश है जिसे कतिपय आलोचक नाट्य दृष्टि से अनुपयुक्त बताते हैं। काव्य-प्रकाश के रचयिता मम्मट ने इसे "अकाण्डे प्रथनम्" अर्थात् अनुचित स्थान में रस-विस्तार बताया है। साहित्य-दर्पणकार भी इस प्रणय-दृश्य को उचित नहीं समझते। जैसा बताया जा चुका है, नाटक के कथानक पर विचार करने से विदित हो जाता है कि दुर्योधन के जीवन की दुःखान्त समाप्ति द्योतित करना नाटककार का मुख्य उद्देश्य है। द्वितीय अंक में उसके दाम्पत्य जीवन के पराभव को प्रदर्शित कर अंत में उसके कारुणिक वध का समावेश किया

है। इस प्रकार दैव की परिवर्त्तनशीलता एवं मानव-जीवन की अस्थिरता का बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है।

इसी प्रकार कतिपय विद्वानों का यह मत है कि वेणीसंहार में द्वितीय, चतुर्थ एवं पंचम अंक अनावश्यक हैं। तृतीय अंक में वर्णित कर्ण तथा अश्वत्थामा की वाक् कलह दुर्योधन को नायक माननेवाले आलोचकों के लिए महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि वह नायक नहीं कहा जा सकता, प्रतिनायक के रूप में हमारी संवेदना सदा उसके साथ विद्यमान रहती है तथा इस दृश्य का अपना विशेष महत्त्व है। इन तीनों ही अंकों में दुर्योधन पर पड़नेवाली विपत्तियों का विशद वर्णन है। इन अंकों में हमें क्रमशः द्रोण, दुःशासन एवं वृषसेन की हत्या की सूचना मिलती है। ये सभी घटनाएं कौरवों के लिए अनिष्टकारिणी एवं महाविपत्तिसूचक हैं। इनके समावेश करने से कवि को करुण रस के सजीव चित्रण में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। भवभूति ने अपनी अमर कृति उत्तररामचरित में एक नवीन परंपरा प्रदान की है। भट्ट नारायण पर उसकी पर्याप्त छाप लगी जिस कारण वे भी इस रस के प्रयोग में कुशलहस्त सिद्ध हुए।

कथानक में घटना की बहुलता एक दूसरी विशेषता है। कवि समस्त घटना-समूह को नाटकीय ढंग पर प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुआ। छोटे से नाटक में अनेक विषयों का समावेश होने से नाटक जटिल अवश्य हो गया है। चतुर्थ अंक में सुन्दरक द्वारा युद्धभूमि का वर्णन कवित्वपूर्ण होने पर भी नाटकीय दृष्टि से उपयोगी नहीं है। द्रौपदी तथा दुर्योधन जैसे मुख्य पात्रों का विशद चरित्र-चित्रण नहीं हो पाया है। प्राकृत एवं संस्कृत में प्रयुक्त दीर्घकाय समास नाटक की कथा-वस्तु के लिए अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं।

वेणीसंहार नाटक के अंत में दुर्योधन की मृत्यु का वर्णन है। अतः कतिपय आलोचक इसे संस्कृत नाटकों के सुखान्त होने की परम्परा के प्रतिकूल बताते हैं। भीम को नायक मानने से यही घटना सुखान्त हो जाती है। इस घटना को मंच पर उपस्थित न कर कवि ने कंचुकी द्वारा सूचित किया है। इसी प्रकार अन्य कौरव योद्धाओं की मृत्यु रंग-मंच से पृथक् ही होती है जिसकी नाटक में सूचना मात्र मिलती है। इस प्रकार दुर्योधन की मृत्यु का अंत में वर्णन

होने पर भी नाटक के सुखान्त होने का मनोवैज्ञानिक प्रभाव ज्यों का त्यों बना रहता है।

इस प्रकार मृत्यु को रंगमंच पर न दिखाते हुए भट्ट नारायण ने संस्कृत की इस नाट्य-परम्परा का पालन किया है कि दर्शकों को बीभत्स चित्र न दिखाये जायें जिससे उनके मन में कुत्सित विचार उत्पन्न न हो।

भट्ट नारायण की एकमात्र कृति वेणीसंहार ही उपलब्ध हुई है। एक ही कृति के कारण उनकी प्रतिष्ठा स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। वेणीसंहार में विभिन्न रसों का निरूपण हुआ है और यह ओजोगुण विशिष्ट नाटक है। महाभारत के एक रोचक प्रसंग को नाटकीय रूप प्रदान करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

१४. मुरारि

(८वीं शताब्दी ई०)

रामायण के आधार पर लिखे हुए नाटकों में अनर्घराघव का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है जो मौद्गल्य गोत्र में उत्पन्न मुरारि की एकमात्र उपलब्ध रचना है। मुरारि के पिता का नाम वर्धमानक एवं माता का नाम तन्तुमती देवी था। उनके समय के विषय में निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। परोक्ष प्रमाणों एवं उद्धरणों के आधार पर ही हमें उनके समय का निर्णय करना पड़ता है। महाकवि भवभूति के प्रसिद्ध उत्तररामचरित नाटक के दो श्लोक कवि ने उद्धृत किये हैं। अतः वे भवभूति के निश्चय ही पश्चाद्वर्ती थे। भवभूति का समय, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, सन् ७०० ई० के आसपास है। महाकवि रत्नाकर ने अपने हरि-विजय नामक ग्रंथ में मुरारि का स्पष्ट निर्देश किया है। रत्नाकर का समय लगभग सन् ८५० ई० है। अतः आप इससे पूर्व अवश्य हुए। प्रो० कोनो के विचारानुसार मुरारि राजशेखर के पूर्ववर्ती थे। यह धारणा सन् ११३५ ई० में रचे गये मंख कृत श्रीकण्ठचरित के आधार पर अवलम्बित है। उपर्युक्त तर्क के आधार पर विद्वानों ने मुरारि का समय सन् ८०० ई० के लगभग माना है।

अनर्घराघव का कथानक

उनके नाटक अनर्घराघव में सात अंक पाये जाते हैं। इसमें महर्षि विश्वामित्र द्वारा यज्ञरक्षार्थं राम-लक्ष्मण की दशरथ से याचना से राम-राज्याभिषेक पर्यन्त रामायण की कथा अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत की गयी है। अपनी अनुपम काव्य-कला के आधार पर मुरारि ने यत्र-तत्र मूल कथा में कुछ परिवर्त्तन कर अपनी कृति को रोचक नाटकीय रूप प्रदान किया है।

प्रथम अंक में मुनि विश्वामित्र महाराज दशरथ से यज्ञ-रक्षणार्थ राक्षसों के वध के हेतु राम और लक्ष्मण दोनों पुत्रों की याचना करते हैं। महाराज पुत्र-वियोग में दुःख अनुभव करते हैं परन्तु कर्त्तव्य समझ पुत्रों को मुनि के साथ भेज देते हैं।

द्वितीय अंक में राक्षस एवं उनके भयावह कृत्यों का वर्णन है। आश्रम में पहुंचकर राम और लक्ष्मण को ताड़का तथा अन्य राक्षसों के आतंक की सूचना प्राप्त होती है। ताड़का के भय से समस्त आश्रम संत्रस्त हो जाता है। पहले तो राम स्त्री-वध में कुछ संकोच अनुभव करते हैं परन्तु इस अवसर पर दुष्टों का वध करना आवश्यक धर्म समझ कर ही उसे संपादित करते हैं।

तृतीय अंक में वे जनक के नगर मिथिलापुरी में प्रवेश करते हैं, जहां पर उन्हें राजकुमारी सीता के स्वयंवर की सूचना मिलती है। मिथिला-नरेश की प्रतिज्ञा के अनुसार रामचन्द्र शिवधनुप का विध्वंस कर सीता के साथ परिणय के अधिकारी हो जाते हैं। दशरथ के अन्य पुत्रों के संबंध भी इस अवसर पर ही निश्चित हो जाते हैं। चतुर्थ अंक में सीता को न प्राप्त कर सकने के कारण रावण अपनी असफलता पर विलाप करता है। शूर्पणखा से राम और सीता के अटूट प्रेम की सूचना प्राप्त कर रावण उन दोनों को वियुक्त करवाने के हेतु नाना प्रकार के प्रयत्न करना आरंभ करता है। इसी कारण वह परशुराम को भी उकसाता है। राम उनसे युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। इस अवसर पर धनुष की टंकार भीषण ध्वनि करती है जिसे सीता दूसरी स्त्री को प्राप्त करने के लिए राम द्वारा पुनः धनुप-भंग होने की संभावना समझती है। इस घटना का मूल कथा से परिवर्तित रूप में अंकन किया गया है। रावण मंथरा के रूप में शूर्पणखा को कैकेयी के भड़-काने के लिए प्रेरित करता है। महाराज दशरथ अपने पुत्र राम को अत्यंत विलाप करते हुए वन में प्रेषित करने को बाध्य होते हैं।

पंचम अंक का आरम्भ जाम्बवान् एवं श्रवण का वन-वासिनी वनिताओं के साथ परस्पर वार्त्तालाप से होता है। राम तथा लक्ष्मण द्वारा वन में किये गये विभिन्न कर्मों का वर्णन उनके परस्पर विचार-विनिमय का विषय होता है। जटायु द्वारा रावण तथा मारीच के कृत्य एवं सीता-हरण की हृदय-विदारक घटनाओं की भी सूचना मिलती है। लक्ष्मण कबन्ध नामक राक्षस का वध, उसके गुह

या निषादराज पर आक्रमण करने के प्रतिकार स्वरूप, करते हैं। एक वृक्ष पर दुंदुभि का कंकाल लटक रहा है। लक्ष्मण-कबन्ध युद्ध में वह वृक्ष टूट जाता है फलतः कंकाल भूमि पर गिर पड़ता है। इस घटना के प्रतिकार-स्वरूप बालि उत्तेजित हो जाता है तथा राम को युद्ध के लिए ललकारता है। संग्राम के दौरान में बालि का काम तमाम करने के उपरान्त राम उसके कनिष्ठ भ्राता सुग्रीव को राज्याभिषिक्त करते हैं। सुग्रीव भी इस अवसर पर राम को सीता के ढूंढ़ने में सहायता करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

षष्ठांक में रावण के आश्रित शरण और शुक नामक दो गुप्तचर मलयवंत को सूचित करते हैं कि राम ने सफलतापूर्वक सेतुबंध कर लिया है और उसकी सहायता से उनकी सेना सागर पार आ चुकी है। यह सूचना मिलने पर लंका में हलचल मच गयी और सहसा ही रावण-सेना को समर में कूदना पड़ा। कुंभ-कर्ण एवं मेघनाद युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं। नाटक में उनकी हत्या नाट्य-शास्त्र के नियमानुकूल प्रदर्शित नहीं की गयी है। रण-संग्राम में मृत्यु के भय के कारण चिल्लाते हुए योद्धाओं की गर्जना दर्शकों को अवश्य सुनाई पड़ती है। मेघनाद और कुंभकर्ण जैसे महारथियों को रावण खोकर शोक-संतप्त हो जाता है। अंततः रावण भी रणस्थली में आ धमकता है। विद्याधर रत्नचूड़ एवं हेमांगद के परस्पर वार्त्तालाप द्वारा राम-रावण का अंतिम संघर्ष एवं रावण-विनाश का वर्णन करने के उपरांत अंक की समाप्ति होती है।

सप्तम अंक में रावण के वध के उपरान्त सीता-राम का पुनर्मिलन संपन्न होता है। तदुपरान्त राम, लक्ष्मण, सीता एवं विभीषण आकाश-मार्ग द्वारा कुबेर के विमान पर अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में सुमेरु पर्वत एवं चन्द्रलोक के रमणीय स्थलों का अवलोकन करते हुए अयोध्या पहुंचते हैं। मार्ग में उन्हें मलयवंत एवं प्रश्रवण पर्वत, गोदावरी, गंगा एवं यमुना नदियां, कुण्डिनीपुर, कान्सी, उज्जयिनी, माहिषमती, मिथिला एवं वाराणसी आदि नगर मिलते हैं। अयोध्या पहुँचने पर राम की माताएं और भाई हृदय से उनका स्वागत करते हैं। वशिष्ठ मुनि उनका राज्याभिषेक संपन्न करते हैं। तदुपरान्त ग्रंथ पर्यवसित होता है।

अपनी नाटक-रचना-चातुरी प्रदर्शित करने के हेतु मुरारि ने मूल कथानक में कतिपय परिवर्तन किये जिनमें से तीन प्रमुख हैं—

(१) रामायण के अनुसार छिप कर बालि का वध करने से राम का यश कलंक को प्राप्त करता है। नाटक में बालि ही उत्तेजित हो उनसे संग्राम करता है। इस प्रकार बालि-सुग्रीव संग्राम न होकर नाटक में राम-बालि युद्ध ही प्रकाशरूप में सम्पन्न होता है।

(२) परशुराम से संग्राम करने के लिए उद्यत राम के धनुष की टंकार सुनकर सीता एक विचित्र कल्पना करती हैं।

(३) कबंध-लक्ष्मण युद्ध एवं गुह की रक्षा के विषय में भी नवीन कल्पना की गयी है।

इन तीनों ही घटनाओं का वाल्मीकि रामायण में स्थान नहीं है। प्रथम का उद्देश्य नायक के चरित्र को निष्कलंकित बनाना तथा अन्तिम दो का नाटक के कथानक को रोचक बनाना है।

सप्तम अंक में मार्ग का विशद उल्लेख करते हुए नगर, नदी तथा तीर्थादि का वर्णन किया गया है। इस चित्रण से तत्कालीन भौगोलिक ज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

रचना-वैशिष्ट्य

जैसा कि कवि ने नाटक की प्रस्तावना में बताया है, उसका उद्देश्य भयानक एवं वीभत्स रस से ऊबे हुए दर्शकों में अद्‌भुत एवं वीर रस का संचार करना है। भगवान् राम का जीवन कवि ने उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक समझा। नाटक के कथानक पर विचार करने से विदित होता है कि कवि ने उसका अनावश्यक विस्तार किया जिस कारण उसे उपर्युक्त उद्देश्य में सफलता प्राप्त न हुई। भावों के व्यञ्जित करने एवं पौराणिक ज्ञान के निरूपण करने में कवि ने अपनी असाधारण प्रतिभा का दिग्दर्शन करवाया है।

उनकी रचना में नाद-सौन्दर्य एवं भाव-प्रकाशन की समता दर्शनीय है। उनकी उपमाएं मौलिक एवं सरस होती हैं। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था

जिस कारण उन्हें व्याकरण विषयक पाण्डित्य प्रदर्शन करने का पर्याप्त अवसर मिला। नाटचकला की अपेक्षा कवि ने शब्दों का चमत्कार दिखाना अधिक श्रेयस्कर समझा। व्याकरण विषयक इतने प्रयोग एक स्थान पर, जितने कि अनर्घराघव में मिलते हैं, अन्यत्र मिलना कठिन है। यही कारण है कि भट्टो जी दीक्षित ने अपने विख्यात सिद्धान्त कौमुदी व्याकरण ग्रंथ में अनर्घराघव के अनेक उदाहरण उपस्थित किये हैं। उनकी शैली का एक उदाहरण निम्नलिखित है—

"दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूताङ्कुर-
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः।
याः कृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात् तैरेवरेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवी निःशंकमेणीकुलम्॥"
——अनर्घ० ५।६

गोदावरी के रमणीय तट का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"मद-मस्त कोयलों ने आम के सुन्दर बौरों को नदी के तट पर गिराकर एक बहुत बड़ी राशि में पराग एकत्र किया है। उनके छोटे-छोटे टीले से बन गये हैं। हरिणियां व्याघ्रों के आतंक से भयभीत हैं। इस कारण वे इन टीलों को पार करने में कुछ कठिनाई अनुभव करती हैं। किन्तु जिस समय यह पराग-राशि पदचिह्नों का स्पर्श करती है उनके आनंद की सीमा नहीं रहती। इस पद में मुरारि ने प्रकृति का बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है।

इसके अतिरिक्त मुरारि ने उपमा एवं अतिशयोक्ति अलंकारों के प्रयोग में विशेष कुशलता व्यक्त की है। कुछ आलोचकों ने उन्हें बाल-वाल्मीकि का पद भी प्रदान किया है तथा कुछ अन्य उन्हें भवभूति से भी श्रेष्ठतर मानते हैं। उनके विषय में एक गर्वोक्ति बहुत ही प्रसिद्ध है जो यह है —

"देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्
आपातालनिमग्न-पीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥"

सरस्वती की उपासना में अनेक कवि नाना प्रकार से रत रहते हैं पर विद्या के मूल तत्व के वेत्ता तो मुरारि कवि ही हैं। उन्होंने गुरुकुल में दीर्घकाल तक निवास कर यथाविधि विद्योपार्जन एवं घोर परिश्रम किया है। बन्दरों ने अतुल महासागर को पार अवश्य किया था परन्तु उसकी अथाह गहराई का पता तो केवल पाताल तक डुबकी लगानेवाले विपुलकाय मन्दराचल को ही है।

१५. राजशेखर

(दसवीं शताब्दी ई० का आरम्भ)

महाराष्ट्र देश में जो भारत की साहित्य-विभूतियां उत्पन्न हुई हैं उनमें राजशेखर का नाम प्रसिद्ध है। वे एक सफल नाटककार एवं कवि थे। उनके पिता दर्दुक तथा माता शीलावती नाम से विख्यात थीं। उनका जन्म क्षत्रियों में प्रख्यात यायावर नामक जाति में हुआ था। उनके पूज्य पिता एक लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति थे तथा समाज ने उन्हें महाराष्ट्रचूड़ामणि एवं अकालजलद जैसी उपाधियों से विभूषित एवं सम्मानित किया था। उनके पूर्वजों में सुरानन्द, तरल एवं कविराज जैसे उच्च कोटि के कवि उत्पन्न हो चुके थे। उनकी धर्मपत्नी चौहान वंश में उत्पन्न अवन्तिसुन्दरी नामक एक सुशिक्षित महिला थीं। धन एवं यश-प्राप्ति के उद्देश्य से उन्होंने महाराष्ट्र देश को त्याग कर कान्यकुब्ज (आधुनिक कन्नौज) को अपना निवास-स्थान बनाया।

उनका समय-निर्धारण करने के लिए उनके नाटकों की कतिपय उक्तियों पर विचार करना आवश्यक है। उन्होंने अपने आश्रयदाता महेन्द्रपाल अथवा निर्भयराज नामक नरेशों का उल्लेख किया है जो कि उन्हें राजगुरु के रूप में सम्मानित किया करते थे। औफ्रेक्ट नामक विद्वान् के मत से यह दोनों नरेश अभिन्न थे। सियादोनी के समीप एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमें महेन्द्रपाल के समय के विषय में दो घटनाओं का उल्लेख किया गया है। इनकी तिथियां सन् ९०३-४ ई० तथा सन् ९०७-८ ई० निर्दिष्ट की गयी हैं। इस प्रकार उनका समय ९०० ई० के लगभग सिद्ध होता है। इस मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों द्वारा भी होती है। उन्होंने उद्भट (८०० ई०) एवं आनन्दवर्धन (८५० ई०) का स्पष्ट उल्लेख किया है। यशस्तिलकचम्पू (९५९ ई०) एवं तिलकमन्जरी (१००० ई०) में उनके

विख्यात यश एवं रचनाओं का निर्देश किया गया है। उपर्युक्त आधार पर भी राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी ई० का आरम्भ प्रमाणित होता है।

उन्होंने बाल-रामायण एवं बाल-भारत की रचना क्रमशः लोक-विख्यात महाकाव्य ग्रन्थ रामायण तथा महाभारत के कथानक के आधार पर की है। उन्होंने विद्धशालभंजिका तथा कर्पूरमंजरी को अपनी कल्पना-शक्ति का रोचक पुट प्रदान कर अपनी अनुपम नाट्य-कुशलता प्रकट की है। इस प्रकार उन्होंने सब मिलाकर चार रूपकों की रचना की है। बालरामायण दस अंकों का एक महानाटक है। इस ग्रंथ में रामायण के आधार पर रोचक कल्पना करते हुए कथानक को नवीन रूप प्रदान किया गया है। इस ग्रंथ में पूर्व काव्य-परम्परा के प्रतिकूल पाठकों की सहानुभूति राम से न कराकर रावण से करायी गयी है।

बालरामायण

बाल-रामायण महानाटक के प्रथम तीन अंकों में रावण का व्यक्तित्व तथा जनक के धनुषयज्ञ का वर्णन है। रावण मिथिला के लिए प्रस्थान करता है तथा सीता की प्राप्ति के लिए परशुराम से प्रार्थना करता है। परशुराम उसकी प्रार्थना को अस्वीकृत कर देते हैं। असफल होकर रावण सीता-राम का परिणय देखकर बहुत ही खिन्न होता है। चतुर्थ अंक में राम तथा परशुराम का परस्पर संवाद दिखाया गया है। पंचम तथा छठे अंक में रावण अपनी बहिन शूर्पणखा की सहायता से सीता का हरण कर उसे राम से वियुक्त करने में सफल होता है। सातवें अंक में अपनी वानर-सेना की सहायता से भगवान् राम समुद्र पर पुल बनाकर तथा उसके पार जाकर लंका में प्रवेश करते हैं। आठवें अंक में राम-लक्ष्मण तथा रावण के सहायकों के मध्य में युद्ध होने का वर्णन है। कुम्भकर्ण एवं मेघनाद का युद्ध इस अंक की मुख्य घटनाएँ हैं। इसके बाद के अंक में राम-रावण के चित्ताकर्षक युद्ध का वर्णन है। यह वर्णन इंद्र द्वारा कराकर कवि ने ग्रन्थ की रोचकता को और भी बढ़ा दिया है। अंतिम अंक में राम, लक्ष्मण, सीता तथा उनके साथी वायुयान द्वारा वायुलोक का भ्रमण कर अयोध्या पहुँचते हैं। सकल नगरवासी उनका हृदय से स्वागत करते हैं तथा भगवान् रामचन्द्र का उनके अनुरूप राजतिलक करते हैं।

बालरामायण में कथानक का अनावश्यक विस्तार किया गया है। राम से संबंधित घटनाओं को छोड़कर रावण से संबंधित अधिक घटनाओं का समावेश किया गया है। समस्त ग्रंथ में स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीड़ित जैसे विशालकाय छंद बहुलता से प्रयुक्त किये गये हैं।

बालरामायण के समान ही नाटककार ने महाभारत के आधार पर बाल-भारत नामक एक रूपक की रचना की है। दुर्भाग्यवश इस अपूर्व ग्रंथ की सम्पूर्ण प्रति हमें उपलब्ध नहीं हुई है। विद्वानों के कठिन परिश्रम के उपरान्त इसके केवल दो अंक ही सुरक्षित रह सके हैं। ग्रंथ के इस भाग में द्रौपदी-स्वयंवर, द्यूत क्रीड़ा एवं द्रौपदी-अपहरण का प्रकरण वर्णित है।

विद्धशालभंजिका

विद्धशालभंजिका भी चार अंकों की एक नाटिका है। इसमें कवि की कल्पना-शक्ति का रोचक चमत्कार प्रस्फुटित हुआ है। इसमें लाट के महाराज चंद्रवर्मा की पुत्री राजकुमारी मृगांकवली तथा सम्राट् विद्याधर मल्ल की प्रणय-कथा का समावेश है। प्रथम अंक में चंद्रवर्मा मृगांकवली को मृगांकवर्मन नामक पुत्र घोषित कर विद्याधरमल्ल की रानी के समीप भेजता है। विद्याधर ने स्वप्न में एक रूपवती कामिनी को देखकर उसे पकड़ना चाहा। उसके मंत्री को मृगांकवली के लिंग की सत्यता विदित थी। अतः उससे राजा का प्रेम उत्पन्न कराने के उद्देश्य से उसे उसने राजा के समीप भेजा था।

मंत्री भृगुनारायण को ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के अनुसार यह विदित था कि मृगांकवली का भावी पति चक्रवर्ती सम्राट् होगा। जिस समय मृगांकवली महाराज के समीप पहुंची वह संयोगवश अपनी चित्रशाला में खुदी हुई अपनी प्रेयसी की मूर्ति को देख रहा था। राजा उसके कण्ठ में एक मुक्तामाला डाल देता है। इस प्रकार वह उससे बहुत प्रभावित होता है परन्तु मृगांकवली पर तनिक भी आकृष्ट नहीं होता। द्वितीय अंक में महारानी मृगांकवली के परिवर्तित रूप से धोखे में पड़कर कुन्तलराजकुमारी कुवलयमाला का विवाह उसके साथ करने का प्रयत्न करती हैं। एक दिन विद्याधर उद्यान में मृगांकवली को उसके मूल रूप में क्रीड़ा

करते व प्रणयलेख पढ़ते हुए देखकर वह सहसा उस पर अनुरक्त हो जाता है। तृतीय अंक में राजा और विदूषक मृगांकवली से मिलते हैं तथा नायक-नायिका में प्रेममय एवं गोपनीय वार्त्तालाप सम्पन्न होता है। चतुर्थ अंक में महारानी का अपने प्रेम में प्रतिद्वन्द्वी होने की आशंका से द्वेष दिखाया गया है। वह मृगांकवर्मन को स्त्रीवेश में सुसज्जित कर विद्याधर से विवाह रचती है। परंतु वस्तुतः उसके स्त्री होने से राजा की मनोकामना पूर्ण हो जाती है। महारानी को इस असफलता से भीषण धक्का लगता है। वह विवश होकर कुवलयमाला का विवाह भी राजा विद्याधरमल्ल के साथ करने को बाध्य होती है।

कर्पूरमंजरी

कर्पूरमंजरी कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमें सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह संस्कृत में उपलब्ध एकमात्र ऐसा रूपक है जिसमें केवल प्राकृत छंदों का प्रयोग हुआ है। यह सट्टक प्रकार का रूपक है। इसमें कुन्तल-राजकुमारी कर्पूरमंजरी तथा महाराज चण्डपाल की रोचक प्रणयकथा का समावेश है। कथानक महाराज हर्षवर्धन कृत रत्नावली नामक नाटिका के समान ही है। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथम अंक में भैरवानन्द नामक एक जादूगर महाराज चण्डपाल के दरबार में कुन्तल-राजकुमारी कर्पूरमंजरी को उपस्थित करता है। राजमहिषी उससे प्रभावित होकर उसे अपने सेवाकार्य में लगा देती हैं। अकस्मात् चण्डपाल उससे मिलता है और उस पर अनुरक्त हो जाता है। द्वितीय अंक में राजा अपनी अभिलाषा विदूषक से प्रकट करता है। विदूषक तथा कर्पूरमंजरी की सखी विचक्षणा उन दोनों की भेंट का प्रबंध करते हैं। उद्यान में दोनों प्रेमी मिलते हैं तथा एक असाधारण आनन्द का अनुभव करते हैं।

तृतीय अंक में रानी एकान्त में उन दोनों को परस्पर क्रीड़ा करते हुए देखकर सहज ही क्रुद्ध हो जाती है।

चतुर्थ अंक में कर्पूरमंजरी के राजकुमारी होने की सत्यता प्रकट होते ही सबकी अनुमति से उसका विवाह महाराज चण्डपाल के साथ कर दिया जाता है।

कर्पूरमंजरी के अध्ययन से पता चलता है कि राजशेखर के समय में स्त्रियाँ अपने नाटकीय भाग का अभिनय करने के हेतु स्वयं रंगमंच पर उपस्थित हुआ करती थीं। इस सट्टक में अन्य रूपकों से भिन्न, प्रस्तावना में नान्दी के उपरान्त सूत्रधार किसी पात्र से वार्त्तालाप नहीं करता परन्तु उसके बदले स्थापक श्लोक बोलता है। इस ग्रंथ में प्रत्येक अंक के लिए जवनिकान्तर शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा जवनिका रंगमंच के परदे का द्योतक है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रंथ के रचनाकाल तक यवनों का हमारे साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। चर्चरी नामक नृत्यविशेष का भी इसमें यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें हाव-भाव का प्रधान स्थान है।

कर्पूरमंजरी का पद-लालित्य उल्लेखनीय है। प्राकृत छंदों का प्रयोग कर उन्होंने काव्य में एक नवीन शैली को जन्म दिया। रस का परिपाक, अनुप्रास माधुर्य, गीत सौन्दर्य चित्रित करने में कवि विशेष प्रतिभासम्पन्न है। महाराष्ट्रीय पद्य तथा शौरसेनी गद्य इस सट्टक में विशेष प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। कर्पूरमंजरी में ऐसे कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो हिंदी भाषा में अपना लिये गये हैं। इस प्रकार भाषा के विकास में भी इस ग्रंथ का स्थान विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है।

राजशेखर की नाटकीय कला का विवेचन करने पर पता चलता है कि प्रवाह की शिथिलता तथा हास्य रस का अभाव उनकी शैली की न्यूनताएँ हैं। भवभूति की भाँति नाटकों में वे पद्यों को दुहराते हैं। स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीड़ित जैसे दीर्घ शब्दावलीवाले छंदों के प्रयोग में वे कुशलहस्त हैं। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। संस्कृत के पश्चाद्वर्ती नाटककारों में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। भाषामनीषियों ने सर्वथा उनको उनके अनुरूप ही सर्व-भाषा-विचक्षण उपाधि से विभूषित किया है।

१६. संस्कृत के अन्य अर्वाचीन नाटककार

ईसा की आठवीं शताब्दी के आरंभ में मुसलमानों का भारत में प्रवेश हुआ। उनके आगमन का हमारे देश के साहित्य एवं संस्कृति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्ट नारायण के उपरान्त संस्कृत नाटकसाहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण रचना नहीं हुई। इस काल के उपरांत मुरारि तथा राजशेखर ही सबसे विख्यात नाटककार हुए हैं जिनका विवरण पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है।

शक्तिभद्र

शक्तिभद्र-रचित आश्चर्यचूड़ामणि नामक नाटक सन् १९२६ ई० में मद्रास प्रान्त से प्रकाशित हुआ है। कीथ महोदय भ्रमवश इसका नाम आश्चर्यमंजरी समझ गये। शक्तिभद्र के समय के विषय में निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ये शंकराचार्य के शिष्य थे, जिनका समय सन् ७८८ से ८२० ई० तक है। अतः इनका समय सन् ८०० ई० के लगभग हो सकता है।

आश्चर्यचूड़ामणि का कथानक रामायण के आधार पर रचा गया है। नाटक को रोचक रूप प्रदान करने के लिए कवि ने मूल कथा में यत्र-तत्र कतिपय परिवर्तन किये हैं। इसमें शूर्पणखा-प्रसंग से सीता की अग्निपरीक्षा पर्यन्त कथा का समावेश है। रामायण के कथानक के प्रतिकूल इसमें मारीच राम-लक्ष्मण को बाध्य करता है कि वे सीता को एकाकी छोड़ दें। रावण और उसका सारथि क्रमशः राम और लक्ष्मण का रूप धारण कर सीता के समीप पहुँचते हैं। सारथिरूपी लक्ष्मण रावण-रूपी राम और सीता से कहता है कि भरत विपत्ति में फँस गये हैं और आप दोनों का उनके सहायतार्थ चलना आवश्यक है। इस प्रकार रावण अपने छल में सफल

होता है। शूर्पणखा सीता का रूप धारण कर पर्णकुटी में बैठ जाती है परन्तु शीघ्र ही उसकी पोल खुल जाती है।

आश्चर्यचूड़ामणि में अद्भुत रस का भी परिपाक हुआ है। शक्तिभद्र की शैली वैदर्भी है जिसको कि महाकवि कालिदास ने भी अपनाया है। भाषा सरल, स्वाभाविक, आडम्बरशून्य एवं सारगर्भित है। पद्यों में प्रसाद और माधुर्य का रोचक समावेश भी है।

"न समाधिः स्त्रीषु" "लोकज्ञः आर्यः" "किं स्नेहस्तुलयति गुणदोषान्" उनके अर्थ-गाम्भीर्य के कतिपय उदाहरण हैं।

महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी शास्त्री के मतानुसार आश्चर्यचूड़ामणि उत्तर-रामचरित की रचना के उपरांत सर्वोत्कृष्ट रामायणीय नाटक है। संस्कृत साहित्य के प्रथम उपलब्ध नाटककार भास के नाटकों की प्रस्तावना से आश्चर्यचूड़ामणि की प्रस्तावना में समता दृष्टिगोचर होती है। नान्दी या मंगलाचरण के श्लोक के पूर्व ही "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" यह प्रयोग मिलता है। जनश्रुति के अनुसार शक्तिभद्र मलाबार के समीपवर्ती प्रदेश में निवास करते थे जहाँ कि इस प्रकार नान्दी लिखने की प्रथा प्रचलित थी। यद्यपि शक्तिभद्र एक सफल नाटक-कार के पद पर आसीन नहीं किये जा सकते, तो भी राम के जीवन को लक्ष्य करके लिखे गये नाटकों में आश्चर्यचूड़ामणि का स्थान उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

दामोदर मिश्र

आपने "हनुमन्नाटक" नामक महानाटक की रचना की है। आनंदवर्द्धन ने, जिसका समय सन् ८५० ई० है, अपने ध्वन्यालोक ग्रंथ में इस महानाटक के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार हमें दामोदर मिश्र का समय ९वीं शताब्दी ई० का आरंभ मानने में कोई आपत्ति नहीं होती। हनुमन्नाटक का कथानक भी रामायण के आधार पर लिखा गया है, इसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें किंचिन्मात्र भी प्राकृत का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। इस महानाटक के प्राचीन और नवीन दो संस्करण मिलते हैं। प्राचीन के रचयिता दामोदर मिश्र तथा नवीन के मधुसूदनदास हैं। दोनों में क्रमशः १४ और ९ अंक पाये जाते हैं। इस ग्रंथ में

अन्य रूपकों की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ दष्टिगोचर होती हैं जिनमें गद्य की न्यूनता, पद्य की प्रचुरता, विदूषक का अभाव एवं पात्रों की बहु संख्या विशेषत: उल्लेखनीय है ।

क्षेमीश्वर

आपने नैषधानन्द और चण्डकौशिक नामक दो रूपकों की रचना की है । आप महाराज महेन्द्रपाल के आश्रित दरबारी राजकवि थे जिनका आश्रय राजशेखर को भी प्राप्त था । इस प्रकार आपका समय सन् ९०० ई० के समीप का है । नैषधानन्द सात अंकों का एक नाटक है । इसमें महाभारत के आधार पर नल-दमयन्ती के प्राचीन आख्यान को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है । हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध सत्यपरीक्षा की कथा के आधार पर चण्डकौशिक नामक नाटक की रचना हुई है । क्षेमीश्वर के दोनों ही ग्रंथों की भाषा सरल है पर वे साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं ।

दिङनाग

आपका "कुन्दमाला" नामक नाटक प्राप्त हुआ है जो सन् १९२३ ई० में मद्रास प्रांत से प्रकाशित हुआ है । आपके समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है । दिङनाग नाम के दो विद्वान् साहित्यकार हुए हैं । मेघदूत के चौदहवें पद्य में प्रथम का उल्लेख है, जिसे मल्लिनाथ ने महाकवि कालिदास का समकालीन एवं प्रतिस्पर्धी बौद्ध दार्शनिक माना है । दूसरे दिङनाग सन् १००० ई० के लगभग प्रादुर्भूत हुए । कुन्दमाला का कथानक रामायण के आधार पर लिखा गया है तथा उसमें रामभक्ति का विस्तृत रूपेण उल्लेख है । कालिदास के समकालीन बौद्ध दार्शनिक को, जो किसी प्रकार भी रामभक्त नहीं हो सकता, इस रचना का कर्त्ता मानना सर्वथा अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है । रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र कृत नाट्य दर्पण में सर्वप्रथम कुन्दमाला का उल्लेख है । इस आधार पर विद्वानों ने उसका रचनाकाल सन् १००० ई० के समीपवर्ती युग में माना है ।

कुन्दमाला के कथानक पर भवभूति के उत्तररामचरित नाटक के कथानक

का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसमें राम के राज्याभिषेक के उपरांत सीता के निर्वासन से पृथ्वी द्वारा उसकी पवित्रता घोषित करने एवं राम के पुनर्मिलन तक की कथा का वर्णन है। यह छः अंक का नाटक है। प्रथम अंक में लोकापवाद की सूचना पाकर राम अपनी गर्भवती पत्नी को गंगातट पर छोड़ आने का आदेश लक्ष्मण को देते हैं। लक्ष्मण के ऐसा करने पर महर्षि वाल्मीकि सीता को अपने आश्रम में शरण देते हैं।

द्वितीय अंक में लव-कुश के जन्म तथा वाल्मीकि द्वारा उन्हें रामायण की शिक्षा प्राप्त होने का वर्णन है। राम के अश्वमेध यज्ञ में आमंत्रित होने पर महर्षि वाल्मीकि के अन्य आश्रमवासी शिष्यों के साथ सीता नैमिषारण्य प्रस्थान करने के लिए उद्यत होती है।

तृतीय अंक में सीता अपने पुत्रों सहित गन्तव्य स्थान पर पहुँचती है। उसी स्थल पर राम तथा लक्ष्मण दोनों गोमती के रमणीय तट पर टहलते हुए कुन्दपुष्पों की बहती हुई एक माला देखते हैं। राम उसको सीता-निर्मित समझकर उसके वियोग में अतिशय विलाप करते हैं। सीता छिपी हुई खड़ी रहकर कुंज की ओट से यह करुणोत्पादक दृश्य देखती है। इसी घटना के आधार पर नाटक का नामकरण किया गया है।

चतुर्थ अंक में तिलोत्तमा नामक एक अप्सरा राम के समक्ष सीता का रूप धारण कर उन्हें अत्यधिक संतप्त करने में सफल होती है।

पंचम अंक में लव-कुश राम के दरबार में रामायण का पारायण करते हैं।

छठे अंक में पृथ्वी दृश्यमान होती है तथा सीता की पावनता एवं उसके आदर्श पातिव्रत धर्म को राम के समक्ष प्रकाशित करती है। तदुपरान्त राम अपना अवशिष्ट जीवन अपनी भार्या सीता एवं लव-कुश के साथ सानंद यापन करते हैं।

उत्तररामचरित तथा कुन्दमाला दोनों ही का कथानक वाल्मीकि-रामायण के उत्तर कांड से प्रेरित है। दोनों ही नाट्यशास्त्र के नियमानुसार मूल कथा में परिवर्तन कर ग्रन्थ का सुखान्त पर्यवसान करते हैं। यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि भवभूति दिङ्नाग से कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण नाटककार थे, करुण रस के चित्रण एवं मनोभावों के सूक्ष्म निरूपण में उनको भी पर्याप्त सफलता मिली

है। उत्तररामचरित में भावों का अति प्रभावोत्पादक वर्णन है, जब कि कुन्दमाला में राम की शालीनता का रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

कालिदास के समान ही इस कवि ने भी पशु-पक्षियों द्वारा संतप्त मानव के प्रति समवेदना प्रकट करवाकर प्रकृति के मानवीकरण का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। राम द्वारा सीता के परित्याग का स्मरण कर वन के पशु इस प्रकार कारुणिक विलाप करते हैं —

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः॥

—कुन्द० १।१८

देवी सीता की कारुणिक दशा का अवलोकन कर हरिण भी हरी घास का भक्षण त्याग कर रुदन कर रहे हैं। शोक से आकुल होकर हंस भी करुणापूर्वक अश्रु-प्रवाह में प्रवृत्त हो रहे हैं। सीता की इस असाधारण मनोव्यथा का अनुभव कर मयूर अपने स्वभावजन्य नृत्य का परित्याग कर देते हैं। इस प्रकार तिर्यक् योनि में उत्पन्न पशु-पक्षी मनुष्यों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

प्रकृति के रमणीय दृश्य एवं कान्तार के वर्णन में भी कवि ने अपनी कुशल प्रतिभा प्रदर्शित की है। समुद्र का वर्णन भी उसकी कल्पनाशक्ति का एक सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस नाटक के कतिपय स्थलों पर कुछ अपूर्ण प्राकृतिक वाक्य मिलते हैं, विद्वानों के सतत प्रयास के उपरांत भी इनका ठीक संस्कृत रूपांतर नहीं हो पाया है। अतः इसके अधिक अध्ययन एवं मनन की आवश्यकता है जिससे इसका ठीक-ठीक रूपान्तर किया जा सके।

कृष्ण मिश्र

आपका रचा हुआ प्रबोधचन्द्रोदय नामक केवल एक ही नाटक उपलब्ध हुआ है। आप जैजाकभुक्ति के राजा कीर्ति वर्मा के शासन-काल में विद्यमान थे। सन

१०९८ ई० में लिखा हुआ कीर्तिवर्मा का शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। अतः कृष्ण मिश्र का समय निश्चय ही सन् ११०० ई० के लगभग का है।

प्रबोधचन्द्रोदय शान्त रसप्रधान एक एकांकी नाटक है। वेदान्त मत के अद्वैत-वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नाटककार का मुख्य उद्देश्य था। कवि ने श्रद्धा, भक्ति, विद्या, ज्ञान, मोह, विवेक, दंभ, बुद्धि इत्यादि अमूर्त्त भावमय पदार्थों को विभिन्न स्त्री और पुरुष पात्रों में विभक्त कर अध्यात्म विद्या का सुन्दर एवं रोचक उपदेश प्रस्तुत किया है। संस्कृत साहित्य के प्रथम उपलब्ध नाटककार भास के बालचरित में सर्वप्रथम ऐसे अमूर्त्त भावमय पदार्थों का पात्रीकरण दृष्टि-गोचर होता है। अश्वघोष ने भी इस प्रणाली को अपनाने का प्रयत्न किया है। जैसा कि उनके प्रसंग में बताया जा चुका है, उनके एक नाटक में यह शैली दृष्टि-गोचर होती है, उस ग्रंथ के नाम का पता नहीं चलता और वह हमें अपूर्ण रूप में ही प्राप्त हुआ है।

अध्यात्म तत्त्व की दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके दार्शनिक पद्यों में श्रद्धा, भक्ति एवं ज्ञान का अपूर्व समन्वय प्रस्तुत किया गया है। अन्य वृक्षों की भाँति शोकरूपी वृक्ष किस प्रकार पल्लवित हो फल प्रदान करता है, इस विषय का रूपक अलंकार द्वारा वर्णन करते हुए कवि कहता है—

उप्यन्ते विषवल्लिबीजविषमाः क्लेशाः प्रियाख्याः नरैः
तेभ्यः स्नेहमया भवन्ति नचिराद् वज्राग्निगर्भाङ्कुराः।
येभ्योऽमी शतशः कुकूलहुतभुग्दाहं दहन्तः शनै-
र्देहं दीप्तशिखासहस्रशिखरा रोहन्ति शोकद्रुमाः॥—प्रबोध० ५।१६

इस संसार में मनुष्य विष-लता के समान कलत्र-पुत्र रूपी महा अनर्थकारी क्लेश बीजों को बोते हैं। उनसे कुछ ही काल के अनन्तर वज्राग्नि के समान संताप-दायक स्नेहासक्तिरूपी अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। इनसे शोकरूपी वृक्षों का प्रादुर्भाव होता है जो सहस्रों ज्वालाओं के समेत तुषाग्नि के समान सदा देह को दग्ध करते रहते हैं। इस श्लोक में निश्चय ही कवि ने अध्यात्म विद्या का बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है।

पश्चाद्वर्ती साहित्य पर इस आध्यात्मिक प्रणाली की विशेष झलक दृष्टिगोचर होती है। इस प्रथा को अपनाते हुए ईसा की तेरहवीं शताब्दी में यशपाल ने मोहपराजय, चौदहवीं शताब्दी में वेंकटनाथ ने संकल्पसूर्योदय तथा सोलहवीं शताब्दी में कर्णपूर ने चैतन्यचन्द्रोदय नामक नाटकों की रचना की है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में भी इस शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास-रचित रामायण के अन्तर्गत पंचवटी प्रसंग में इस रूपक के आध्यात्मिक प्रभाव की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। कवि केशवदास ने तो विज्ञानगीता नाम से इस ग्रंथ का छंदोबद्ध हिन्दी अनुवाद ही किया है।

जयदेव

कवि जयदेव विदर्भ प्रान्त के अन्तर्गत कुण्डिननगर के निवासी थे। उनकी माता का नाम सुमित्रा तथा पिता का नाम महादेव था। उनका समय लगभग सन् १२०० ई० है। प्रसन्नराघव नाटक की रचना के अतिरिक्त उन्होंने चंद्रालोक नामक अलंकार ग्रंथ की भी रचना की है। गीतगोविन्द के रचयिता वंगीय जयदेव से ये सर्वथा भिन्न हैं।

प्रसन्नराघव ही इनकी एक मात्र उपलब्ध नाटक-रचना है। इसका कथानक रामायण के आधार पर है। अपना नाट्यकौशल प्रकट करने के हेतु कवि ने इस ग्रंथ में कतिपय मौलिक परिवर्तन भी किये हैं। सीतास्वयंवर से लेकर रावण वध के उपरान्त राम के अयोध्यागमन तक की कथा का इसके सात अंकों में समावेश है। नाटक के आरम्भ में बाणासुर तथा रावण दोनों ही सीता की प्राप्ति में असफल हो दुःखी एवं उपहासास्पद होते हैं। सीतास्वयंवर तथा राम-परशुरामसंवाद में ही ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग—चार अंक समाप्त कर दिये गये हैं। सहकार वृक्ष एवं वासन्ती लता के संयोग का वर्णन कर कवि ने सीता और राम के भावी दाम्पत्य जीवन की ओर संकेत किया है। रामवनवास एवं सीताहरण की घटनाओं को कवि ने नदियों के संवाद द्वारा निरूपित किया है।

छठे अंक में विरही राम दो विद्याधरों की माया द्वारा लंका का अवलोकन

करते हैं। रावण अपने प्रणय-प्रस्ताव को ठुकराने के अपराध में सीता का वध करने तक को उद्यत हो जाता है परन्तु पुत्र के कटे हुए सिर को देखकर शान्त हो जाता है। इस प्रकार कवि ने मूल कथा में कतिपय परिवर्तन कर रोचकता का संचार किया है।

जयदेव ने परिष्कृत भापा एवं शैली का प्रयोग किया है। भाषा माधुर्य एवं लालित्य से परिपूर्ण है। भाषा पर कवि का असाधारण प्रभाव था, जिसके कारण उसे सूक्तियों के सुन्दर प्रयोग में सफलता मिली। तुलसीदास ने जयदेव की शैली से प्रभावान्वित होकर मानस में प्रसन्नराघव के अनेक पद्यों का अनुसरण किया है। तर्कशास्त्र के कर्कश और वक्र प्रयोगों में तथा काव्य की कोमल-कांत पदावली की रचना में कवि को आश्चर्यजनक सफलता मिली है। उसकी नाट्य-चातुरी तथा काव्यप्रतिभा से प्रभावित होकर उत्तरकालीन आलोचकों ने कवि को सर्वथा उसके अनुरूप ही पीयूषवर्ष की उपाधि प्रदान की है।

वत्सराज

कवि वत्सराज कालिंजर-नरेश परमर्दिदेव के मंत्री थे जिनका समय सन् ११६३ से १२०३ ई० तक है। अतः वत्सराज का समय सन् १२०० ई० के लगभग का है। आपने छः नाटक ग्रंथों की रचना की। भास के समान ही आपने विविध रूपकों की रचना की। आपके रूपक तथा उनके कथानक निम्नलिखित हैं—

(१) कर्पूरचरित—यह एकांकी भाण है। इसमें द्यूत का खिलाड़ी कर्पूर अपने रोचक अनुभवों का वर्णन करता है।

(२) किरातार्जुनीय—यह भारवि कवि के प्रसिद्ध किरातार्जुनीय महाकाव्य के आधार पर रचा हुआ एकांकी व्यायोग है।

(३) हास्यचूड़ामणि—एकांकी प्रहसन है।

(४) रुक्मिणीहरण—यह महाभारत के आधार पर चार अंकों का एक ईहामृग है।

(५) त्रिपुरदाह—यह चार अंकों का एक डिम है। इसमें भगवान् शंकर द्वारा त्रिपुरासुर की नगरी के विध्वंस होने का वर्णन किया गया है।

(६) समुद्रमंथन—यह तीन अंकों का समवकार है। इसमें सर्वप्रथम देवता और राक्षसों द्वारा समुद्र-मंथन की रोचक कथा का नाटकीय चित्रण है। अन्त में चौदह रत्नों की प्राप्ति के उपरांत विष्णु तथा लक्ष्मी के मंगलमय परिणय का वर्णन किया गया है।

त्रिपुरदाह और समुद्रमंथन दोनों ही ग्रंथों में पौराणिक आधार पर कवि ने रमणीय रूपकों की रचना की है। उनकी शैली सरस, मधुर, ललित एवं प्रभावोत्पादक है। दीर्घ समास एवं दुरूह वाक्य-विन्यास का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। इनके रूपकों में क्रियाशीलता, रोचकता तथा घटनाओं की प्रधानता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

१७. संस्कृत के आधुनिक नाटककार

(क) १२वीं शती से १७वीं शती तक

ईसा की बारहवीं शताब्दी में हमारे प्राचीन समृद्धिशाली देश भारतवर्ष में यवनों के प्रभुत्व का श्रीगणेश हुआ। परिणाम यह हुआ कि अब तक संस्कृत के पठन-पाठन को जो राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था, वह शनैः-शनैः न्यून होने लगा। कविगण एवं साहित्यकारों की रचनाएँ प्रायः शिक्षित, सभ्य समाज तक ही सीमित रहने लगीं तथा जनसाधारण के लिए दुर्बोध होने के कारण उनका व्यापक प्रचार न हो सका। विदेशीय सम्पर्क के कारण हमारी दैनिक भाषा में उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का प्रसार होने लगा। इससे उन भाषाओं ने धीरे-धीरे संस्कृत का स्थान लेना प्रारम्भ कर दिया और हिन्दी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं का जन्म हुआ।

इस विषय में एक बात उल्लेखनीय है और वह यह कि यद्यपि भारत के कुछ भागों में मुसलमानों का आधिपत्य अवश्य स्थापित हो गया था, फिर भी संस्कृत भाषा एवं साहित्य के स्वतंत्र विकास तथा प्रगति में किसी प्रकार की कमी नहीं आ पायी। भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर अनेक समृद्धिशाली नरेश छोटी-छोटी रियासतों पर राज्य करते रहे। चाहे उनमें संग्रामशक्ति कम रही हो पर वे विद्याव्यसनी अवश्य थे। अन्य कठिनाइयों के उपस्थित रहने पर भी वे संस्कृत के विद्वानों एवं साहित्यकारों को आश्रय देते रहे। संस्कृत के विद्वानों ने भी दारिद्र्य की नाना कठिनताओं का सामना करते हुए भी इस भाषा में साहित्य-रचना की परम्परा स्थिर रखी जिससे उसमें किसी प्रकार का अवरोध सम्भव न हो सका।

यह सत्य है कि इस काल में रचा हुआ साहित्य इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि प्राचीन काल का। फिर भी संस्कृत में इस समय भी सभी प्रकार के साहित्य का सतत रूप से सर्जन होता रहा। संस्कृत नाटकसाहित्य का प्रचार भी अवरुद्ध

गति से होता रहा, यद्यपि कालिदास के प्रकृतिचित्रण, श्रृंगारप्रियता, व्यंजनावृत्ति एवं भवभूति के भाव-गाम्भीर्य को देखते हुए वे ग्रन्थ बहुत ही निम्नकोटि के प्रतीत होते हैं।

यशचन्द्र—१२वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध

११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि और दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र के मध्य एक विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ सम्पन्न हुआ। परिणामतः कुमुदचन्द्र का पक्ष विजयी घोषित किया गया। इसी घटना को लक्ष्य करके यशचन्द्र ने मुदित-कुमुदचन्द्र नामक प्रकरण ग्रंथ की रचना की है।

कविराज शंखधर—१२वीं शताब्दी ई०

ये कान्यकुब्ज-नरेश गोविन्दचन्द्र के सभापंडित थे, जिनके पुत्र जयचन्द को प्रत्येक इतिहास का विद्यार्थी जानता है। इन्होंने लटकमेलक नामक विख्यात संस्कृत प्रहसन ग्रंथ की रचना की है। यह प्रहसन संस्कृत का सबसे मनोरंजक रूपक है। लटकमेलक का शाब्दिक अर्थ धूर्त-सम्मेलन है। शाक्त ने अपने मित्र जटासुर का उसकी इच्छा के अनुसार एक वेश्या की दन्तुरा नामक दासी से तथा अपना स्वयं वेश्या के साथ स्वयंवर विवाह करा दिया। इस प्रधान कथा के साथ-साथ कवि ने सामाजिक दशा का बड़ा मनोरंजक दृश्य उपस्थित किया है। जन्तुकेतु वैद्य, मिथ्याशुक्ल जैसे शुष्क वैद्य, सनकी दार्शनिक कुक्कुट मिश्र, बौद्ध भिक्षु व्यसनाकर आदि पात्रों का इतने मनोहर ढंग से निरूपण किया गया है कि प्रहसन बिलकुल यथार्थ ही प्रतीत होता है। मूर्ख ग्रामीण वैद्यों का भी यथास्थान रोचक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। उनकी ओषधि का प्रख्यात नुसखा निम्नलिखित है—

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेषयेत्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥

चाहे जिस पेड़ की जड़ को चाहे जिस पदार्थ के साथ पीसकर इच्छानुसार किसी भी रोगी को देने पर कोई न कोई परिणाम होगा ही।

इसी प्रकार बौद्ध धर्म के अनुयायी व्यसनाकर का एक धोबिन के साथ प्रणय-प्रसंग चित्रित कर ग्रंथ में सामयिकता का संचार किया गया है। अन्य मतों एवं तत्कालीन सामाजिक दशा का निरूपण कर प्रहसन को मनोरंजक बनाने का पूर्ण प्रयत्न दृष्टि-गोचर होता है।

विग्रहराजदेव—१२वीं शताब्दी ई०

इनके पिता का नाम अण्णोराज था। इनके समय में भारतवर्ष में मुसलमानों के प्रभुत्व का श्रीगणेश हो गया था। इन्होंने हरकेलि नामक एक नाटक ग्रंथ की रचना की है, जिसमें महाभारत के आधार पर लिखे हुए भारवि-रचित किराता-र्जुनीय महाकाव्य को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है।

रामचन्द्र—१२वीं शताब्दी ई०

ये प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हेमचन्द्र के शिष्य थे। इनके विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि हेमचन्द्र के प्रभाव से इनका एक नेत्र ज्योतिर्विहीन हो गया था जिससे ये जैनमत के सिद्धान्तानुसार एक नेत्र से समस्त प्राणिमात्र पर सामान्य दृष्टि रख सकें। जनश्रुति के अनुसार रामचन्द्र ने सौ से अधिक ग्रंथों का निर्माण किया, जिनमें से अधिकांश काल की कराल गति में लुप्त हो गये। नवविलास, रघुवंश, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, निर्भयभीम, सत्य हरिश्चन्द्र, कौमुदी-मित्रानन्द उनकी प्रमुख नाटक-रचनाएँ हैं।

रुद्रदेव—राज्यकाल १२६८-१३१९ ई०

वारंगल प्रदेश के अन्तर्गत ये एकशिला नामक राज्य के शासक थे। ये स्वयं कवि थे। इन्होंने अनेक साहित्यकारों को आश्रय भी दिया था। इनकी साहित्यिक कृतियों में केवल उषर्गोदय तथा ययातिचरित नामक दो नाट्यरचनाएँ ही उपलब्ध हैं। उषर्गोदय एक नाटिका है जिसमें उषा और अनिरुद्ध की प्रणयकथा समाविष्ट है।

ययातिचरित में पौराणिक आख्यान के आधार पर देवयानी, शर्मिष्ठा एवं ययाति के प्रसंग का चित्रण है। शर्मिष्ठा और ययाति का विवाह हो चुका था।

ययाति देवयानी से प्रेम करने लगा और उसके पिता शुक्र ने इस शर्त पर कि वह कभी शर्मिष्ठा के साथ शयन न करेगा, विवाह कर दिया। ययाति का गुप्तरूप से शर्मिष्ठा के साथ भी सम्पर्क विद्यमान रहा। देवयानी से दो तथा शर्मिष्ठा से तीन पुत्रों की प्राप्ति हुई। शुक्र को जब यह वृत्तान्त विदित हुआ तो उन्होंने ययाति को वृद्ध हो जाने का शाप दिया। उनके छोटे पुत्र पुरु ने पिता का शाप स्वयं ग्रहण कर आदर्श पितृ-भक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया। फलतः ययाति पूर्ववत् युवा हो गये तथा पुरु यौवनकाल में ही वृद्ध के समान दुर्बल हो गया।

सुभट—१२वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध

सुभट ने दूतांगद नामक एक छाया नाटक की रचना की है। यह नाटक अहनिलबाड में महाराज त्रिभुवनपालदेव के दरबार में सन् १२४२ ई० के लगभग सर्वप्रथम अभिनीत किया गया था। भारतवर्ष में सोमनाथ का मंदिर अपनी समृद्धि के लिए बहुत दिनों से विख्यात था और उसमें अपार धनराशि थी। प्रसिद्ध मुसलमान लुटेरे मुहम्मद गजनवी ने उसको लूटा और उसमें स्थित शिवमंदिर एवं प्रतिमा को तोड़ डाला। राजा कुमारपाल ने उस मंदिर का पुनर्निर्माण किया और शिवप्रतिमा की प्रतिष्ठा की। इसी अवसर पर सुभट ने अपने अलौकिक नाटक दूतांगद की रचना की।

छायानाटकों का अभिप्राय उन नाटकों से है जिनमें पात्र स्वयं मंच पर दर्शकों के सम्मुख उपस्थित नहीं होते, अपितु परदे के पीछे इस प्रकार अभिनय करते हैं कि उनकी छाया परदे पर पड़ती है और अभिनय करती हुई सी प्रतीत होती है। इस प्रकार के नाटक प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सके हैं। सुभट-कृत दूतांगद ही इस प्रकार का प्रथम उपलब्ध छाया नाटक है।

जैसा कि नाम से ही विदित होता है, दूतांगद का कथानक रामायण के सुप्रसिद्ध आख्यान पर अवलम्बित है। समुद्र को पार करने के उपरान्त राम अपनी सेना सहित लंका पहुँचे और रावण से युद्ध छेड़ने के पूर्व उन्होंने शान्तिमार्ग अपनाकर अंगद को दूतरूप में भेजना और रावण को समझाना अधिक श्रेयस्कर समझा। राम की आज्ञा से अंगद दूत बनकर रावण के दरबार में पहुँचते हैं और उससे कहते हैं

कि तुम सीता को उसके पति राम को लौटाकर उनसे उचित क्षमा-याचना करो, तभी तुम्हारा कल्याण सम्भव है। रावण यह नहीं मानता और दर्पयुक्त कथनोपकथन प्रस्तुत करता है। रावण और अंगद का संवाद बड़ा ही ओजपूर्ण है, जिसमें दोनों के उत्तर और प्रत्युत्तर में वीर रस की एक अलौकिक झलक दृष्टिगोचर होती है। भाषा प्रसादपूर्ण, प्रांजल एवं सरस है जो कि पाठकों के हृदयों पर सहज प्रभाव डालती है। अन्त में अंगद रावण के कुकर्मों का वर्णन कर असफल ही प्रत्यावर्तन करता है। इसके बाद देवलोक से हेमांगद और चित्रांगद का प्रवेश होता है और वे रावण के भावी नाश की सूचना दर्शकों को देते हैं।

रावण और अंगद के उत्तर एवं प्रत्युत्तर में भाषा की प्रौढ़ता के साथ-साथ तत्क्षण उचित उत्तर देने की प्रणाली का भी रोचक परिपाक प्रस्तुत किया गया है।

अंगद द्वारा राम की प्रशंसा करने पर और समुद्र पार करने आदि का वर्णन करने पर रावण इस प्रकार उत्तर देता है—

पारावतैः किमयमम्बुनिधिर्न तीर्णः,
क्रान्ताः कथं न कपिभिः क्व च नाम शैलाः
तद्वेद्मि दोर्बलमसौ यदि शौर्यरेखा-
माविष्करोति करवालकषोपलेऽद्य ॥—दूता० ३४॥

क्या कबूतरों ने इस प्रकार का पराक्रम करके समुद्र को पार नहीं किया है? अथवा बन्दरों ने पर्वतों पर आघात नहीं किया है? मैं उसी अवस्था में बाहुबल को सार्थक समझता हूँ कि यदि आज राम मेरी खड्गरूपी कसौटी पर शूरता की लकीर प्रकाशित कर दे, अर्थात् मेरे द्वारा आक्रमण करने पर यदि वह पौरुष एवं साहस दिखलाता है तब ही उसका पराक्रम श्लाघनीय है।

अंगद रावण की इस उक्ति का अपने अनुरूप ही इस प्रकार प्रत्युत्तर देते हैं—

किं राघवस्य दशकंधर चन्द्रहासवंशेऽभवन् भुवनभीतिभिदः शरास्ते।
लूनानि यैस्तव शिरांसि पुनः प्ररोहमेष्यन्ति मूढ ! नहि धूर्जटपर्वणीव ॥—दूता० ३६

हे राक्षसराज रावण! समस्त संसार को अभयदान देने वाले राम के बाण क्या चन्द्रहास के कुल में उत्पन्न हुए हैं, जिनसे कटे हुए तुम्हारे सिर पुनः उत्पन्न

हो जायँगे ? जैसे कि पहिले शंकर के पूजन के अवसर पर हुए थे, अर्थात् चन्द्रहास खड्ग से कटे हुए तुम्हारे सिर जैसे पहले शंकरजी के वर-प्रदान से पुनः उत्पन्न हो गये थे उस प्रकार अब राम के द्वारा काटे गये सिर पुनः उत्पन्न न हो सकेंगे।

इस प्रकार सुभट ने अपने दूतांगद छायानाटक में रावण और अंगद के संवादों का समावेश कर अपने ग्रंथ को अत्यन्त रोचक एवं कौतूहलमय बना दिया है। भाषा सरस और मनोहर है। उपमा और रूपक अलंकारों का कतिपय स्थानों पर रोचक प्रयोग हुआ है। कवि छन्दों के प्रयोग में भी कुशलहस्त है और उसने स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि रोचक छंदों का यथास्थान समावेश किया है।

रामभद्र मुनि—१३वीं शताब्दी ई०

ये जयप्रभ सूरि के शिष्य एवं जैनमत के प्रसिद्ध दार्शनिक थे। जैनियों के एक प्रसिद्ध आख्यान को प्रकरण रूप देकर इन्होंने प्रबुद्धरौहिणेय नाटक की रचना की।

मदन—१३वीं शताब्दी ई०

ये परमारवंशीय अर्जुन वर्मा के राजगुरु थे। इनकी रची हुई पारिजातमंजरी नाटिका के कुछ अपूर्ण अंश उपलब्ध हुए हैं। धारा में सन् १२१३ ई० का लिखा हुआ एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है जिसमें इस नाटिका के कुछ भागों को उद्धृत किया गया है। इसमें राजा अर्जुन वर्मा और राजकुमारी पारिजातमंजरी की प्रणयकथा का वर्णन है। अर्जुन वर्मा ने गुजरात के चालुक्य राजा को परास्त कर उसकी पुत्री पारिजातमंजरी से परिणय किया था।

जयसिंह सूरि—सन् १२२५ ई०

आपका एकमात्र नाटक हम्मीरमर्दन है। उसके अनुसार गुजरात के शासक हम्मीर पर यवनों ने आक्रमण कर उसकी दुर्दशा की और धवल एवं उनके मंत्री वास्तुपाल ने इस अवसर पर अपने अलौकिक चमत्कार दिखलाये थे।

रविवर्मा—जन्म सन् १२६६ ई०

यादववंशीय महाराज जयसिंह वीर-केरल के पुत्र थे। प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होने पर आपने केरल पर आधिपत्य जमा लिया था। आपकी प्रसिद्ध नाटक-रचना प्रद्युम्नाभ्युदय पाँच अंकों का एक रूपक है। इसमें वज्रपुर के शासक विराजनाभ के वध के उपरान्त प्रद्युम्न और प्रभावती के विवाह की कथा का निरूपण किया गया है।

विश्वनाथ—१४वीं शताब्दी ई० का प्रारंभ

विश्वनाथ वारंगल-नरेश प्रतापरुद्रदेव के, जिनका राज्यकाल सन् १२९४ से १३२५ ई० है, आश्रित राजकवि थे। अतः विश्वनाथ का समय निश्चित ही १४वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्ध है। बाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया और ये अनाथवत् विचरण करने लगे, तब इनके मामा अगस्त्य ने इनके पठन-पाठन आदि की उचित व्यवस्था की। उन्होंने शीघ्र ही अपने साहित्यिक चमत्कार दिखलाने आरम्भ कर दिये और उनकी कीर्ति वारंगल के राज-दरबार में पहुंच गयी। दरबार में उपस्थित विद्वानों के मनोरंजन के हेतु विश्वनाथ ने सौगन्धिकाहरण नामक एक विख्यात एकांकी नाटक ग्रंथ का प्रणयन किया।

सौगंधिकाहरण का कथानक महाभारत से उद्धृत है। पांडवों के अज्ञातवास के समय द्रौपदी गन्धर्वों द्वारा लायी हुई कई सुगंधित पुष्पमंजरियों को देखती है और अपने वीर पति भीम से उनके ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करती है। भीम अपनी प्रियतमा की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए उक्त मंजरियों को, जिन्हें कि कवि ने सौगंधिका के नाम से सम्बोधित किया है, लेने के लिए प्रस्थान करते हैं। कुछ ही देर में पवनसुत हनुमान के दर्शन मार्ग में होते हैं और दोनों ही लम्बे वार्तालाप में संलग्न हो जाते हैं। इसी प्रसंग में भीम हनुमान से पांडवों के पराक्रम का वर्णन करते हैं जो वीर रस का अनुपम उदाहरण है।

इसी समय कुबेर का आगमन होता है तथा वन के रम्य प्रदेशों में भीम और कुबेर का समागम होता है। कुबेर भीम के अतिशय पराक्रम पर मुग्ध होकर

और उसके युक्तिपूर्ण वचनों को सुनकर उक्त सौगंधिका पांडवों को उपहार-स्वरूप भेंट करते हैं। जिस समय भीम अपना निर्दिष्ट कर्म पूरा कर अपने भाइयों के समीप पहुँचते हैं उस समय उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती।

नाट्यशास्त्र के नियम के अनुसार विश्वनाथ ने ग्रंथ में वीर रस को प्रधान रस बनाया है, यद्यपि स्थान-स्थान पर शृंगार एवं करुण रस का यथायोग्य निरूपण है। अपने मार्ग पर कुछ दूर बढ़ने पर जब भीम को हनुमान के दर्शन होते हैं तो वे उसके लिए इस प्रकार वीरतामय गर्वोक्ति प्रकट करते हैं—

अयं तु स वृकोदरः सकलवीरवर्गाग्रणी-
रुग्रप्रबल विग्रहद्रढिमगर्वसाम्राज्यहृत्।
स्वमुष्टिकुलिशेन यः सपदि राजसूयक्रतो-
रुरुक्रमविधौ पशुं मगधनाथमालब्धवान्॥

—सौगंधिका० २८

यह वही भेड़िये के समान उदरवाला भीमसेन है जो संसार के समस्त साहसी पुरुषों का अग्रणी है, जो प्रबल योद्धाओं से युद्ध करके सरलता से उनका साम्राज्य हर लेता है और जिसने राजसूय यज्ञ के अवसर पर मगध के अधिपति को पशु के समान सरलता पूर्वक मार डाला था।

इस श्लोक में भीम की वीरता के साथ-साथ उनकी प्रकृति का भी निरूपण होता है। इस प्रकार की वीरोचित उक्तियों के साथ-साथ कवि ने प्रकृति-चित्रण में भी रचना-नैपुण्य प्रकट किया है। वन के दुर्गम प्रदेशों में, जहाँ कि भीमसेन सौगंधिका को लेने के हेतु गये थे, प्रकृति अपना अद्भुत मनोरम रूप प्रकट कर रही थी। एक प्रदेश की शोभा का वर्णन करते हुए, जिसमें केसर और कदली के वृक्षों का बाहुल्य था, भीमसेन कहते हैं—

एतास्ताः कदलीवनान्तरभुवो नीरन्ध्रनद्धद्रुम
च्छायान्तः शिशिरीभवत्तलगुहानिद्राणसिद्धाध्वगाः।
यत्र क्रीडति पाकजर्जरपतत्काश्मीरगुच्छावली-
पीडाक्रोडनपिंजरीकृतनिजक्रोडं कुरङ्गीकुलम्॥—सौगं०१९

ये वे केलों के वनमध्यवर्ती भाग में सटे हुए वृक्ष हैं जिनकी शीतल छाया के नीचे गुफाओं में देव-पथिक विश्राम कर रहे हैं। वहीं पीले और सूखते हुए केसर के गुच्छों के अपनी गोद में पड़ जाने से मृगियों का समूह अपने आप को पीत वर्ण का अनुभव कर रहा है।

प्रकृति की शोभा का निरूपण करने के साथ-साथ कवि ने कथानक को रोचक बनाने के हेतु मध्य मध्य में आकर्षक संवाद प्रस्तुत किये हैं। भीम और हनुमान का संवाद तथा भीम और कुबेर का संवाद बहुत अधिक वर्णनात्मक होने के कारण नाटकीय ढंग से महत्त्वपूर्ण नहीं है, फिर भी उनकी काव्यनिपुणता के रोचक उदाहरण हैं जिस कारण हम सौगंधिकाहरण को महाभारत के आधार पर रचे हुए नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान देने को बाध्य होते हैं।

मनिक—१४वीं शताब्दी ई०

ये नटेश्वर के शिष्य एवं राजवर्धन के पुत्र थे। इनका प्रादुर्भाव प्रसिद्ध सुलतान फीरोजशाह तुगलक के राज्यकाल में हुआ था। इन्होंने भैरवानन्द नामक रूपक की रचना की जिसमें भैरव और मदनवती अप्सरा की प्रणयकथा समाविष्ट है।

ज्योतिरीश्वर—१४वीं शताब्दी ई०

यह सिमराओं के शासक हरिसिंह का मित्र एवं समकालीन था। इसने धूर्त-समागम नामक एक प्रहसन ग्रन्थ की रचना की है। पूर्वोक्त मुसलमान सुलतान पर हरिसिंह द्वारा विजय प्राप्त करने के अवसर पर इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।

यशपाल—१४वीं शताब्दी ई०

ये महाराज अजयदेव के मंत्री एवं दरबारी राजकवि थे। इन्होंने कृष्ण मिश्र के प्रबोधचंद्रोदय की रूपकात्मक प्रणाली के आधार पर मोहपराजय नाट्यग्रन्थ की रचना की है। राजा कुमारपाल द्वारा जैनमत का मंडन इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है।

व्यास रामदेव—१५वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध

व्यास रामदेव रायपुर के कलाशुरी नरेशों के आश्रित राजकवि थे। इन नरेशों का राज्यकाल सम्भवतः सन् १४०२ से १४१५ ई० है। अतः व्यास रामदेव का स्थितिकाल भी इसी समय के लगभग रहा होगा। उन्होंने रामाभ्युदय, पांडवाभ्युदय और सुभद्रापरिणय नामक तीन नाटकों की रचना की है।

उनकी इन रचनाओं में सुभद्रापरिणय सबसे प्रमुख है तथा एक प्रकार की विशेष प्रतिभा का दिग्दर्शन उपस्थित करती है। यह छायानाटक है जिसमें पात्र स्वयं मंच पर उपस्थित नहीं होते अपितु उनकी छाया रंगमंच पर अभिनय करती हुई प्रतीत होती है। सुभट के दूतांगद के उपरान्त सुभद्रापरिणय संस्कृत का प्रधान छायानाटक है। इसका कथानक महाभारत के सुप्रसिद्ध आख्यान के आधार पर उद्धृत किया गया है। भगवान् कृष्ण की भगिनी सुभद्रा और पांडवों के वीर भ्राता अर्जुन की प्रेमकथा इस एकांकी नाटक का प्रधान विषय है।

ग्रंथ के आरम्भ में पुष्कराक्ष और वसुमति का मंच पर प्रवेश होता है और वे दोनों धनंजय की वीरता और रणकुशलता के विषय में वार्तालाप करते हैं कि इतने में अर्जुन का प्रवेश होता है। वह अपने मन की संतप्त दशा को बहुत देर तक नहीं रोक पाता और सुभद्रा के प्रति अनुराग एवं उसकी अनुपम छवि का वर्णन करने लगता है। कुछ देर बाद अर्जुन के आदेशानुसार पत्रलेखा का प्रवेश होता है और वह सुभद्रा की कामातुर दशा का उल्लेख करती है। सुभद्रा बहुत देर तक अपने मनोभावों को नहीं छिपा पाती और उद्विग्न दशा में अपनी सखियों के सहित अर्जुन के सम्मुख उपस्थित होती है। सखियों से वार्तालाप में थोड़ा ही समय व्यतीत होता है और भगवान् कृष्ण उपस्थित होते हैं। वे अपनी बहिन की मनोवांछा पूर्ण करने में सहायक होते हैं।

सुभद्रापरिणय में व्यास रामदेव ने कथानक के निर्माण में कुशलता प्रकट की है। उसे रोचक और पाठकों के लिए अधिक मनोरंजक बनाने के लिए प्रकृति-चित्रण में भी उन्होंने अपनी प्रवीणता दिखायी है। वीर और शृंगार दोनों ही रसों को यथास्थान चित्रित करके कवि ने अपना रचनाकौशल प्रकट किया है।

नायक और नायिका दोनों के ही विरह को चित्रित कर कवि सरलतापूर्वक पाठकों की समवेदना उनके प्रति जाग्रत कर देता है।

सुभद्रा अपनी सखी बकुलमाला से अपनी मानसिक व्यथा का निरूपण करती हुई कहती है—

उपदिशति अनङ्गः किमपि यद्यद्रहस्यं
न खलु शृणोति मनस्तत् केन सन्त्रयेयं वीर्घम्।
अनुदिनमनुरागो वर्द्धते कापि लज्जा
गुरुजनवशगा ही किं करिष्ये हतास्मि॥—सुभ० ४३

कामदेव गुप्त रूप से मुझे सीख दे रहा है और मेरे मन को अतिशय पीड़ा पहुँचा रहा है। मैं यह नहीं जानती कि उसे कौन सी शक्ति ऐसी प्रेरणा दे रही है। नित्य ही मेरा अनुराग क्रमशः बढ़ रहा है। मैं गुरुजनों के वश में हूं और ऐसी अवस्था में यह निर्णय नहीं कर पा रही हूँ कि मुझे क्या करना चाहिए।

इस श्लोक में सुभद्रा की कामसंतप्त दशा का बड़े ही सुन्दर ढंग से निरूपण किया गया है जिससे उसकी स्वाभाविक व्यथा का सरलता-पूर्वक बोध हो जाता है।

इसी प्रकार एक भौंरे द्वारा सुभद्रा को सताते हुए देखकर अर्जुन कहता है, जिससे उसकी मानसिक दशा भी विदित हो जाती है—

रे चञ्चरीक! भवताऽतिचरं सुतप्तं
कीदृक् तपः कथय केषु च काननेषु।
सीत्कारकारि परिचुम्ब्य मुखाम्बुजं यद्
बिम्बाधरामृतरसं धयसीदमीयम्॥—सुभ० ४७

हे भौंरे! तू बता कि किन वनों में और कैसा तूने चिरकाल तक तप किया है जो तू सुभद्रा के अमृत के समान मनोहर रसों से संपन्न निम्न ओष्ठ-वाले मुख को चूम रहा है और व्याकुलता के कारण वह सीत्कार कर रही है।

वामनभट्ट बाण—१५वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध

ये दक्षिण के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् थे। इनके द्वारा शिव-पार्वती की पौराणिक कथा को नाटकीय रूप देते हुए पार्वतीपरिणय नामक नाटक की रचना हुई है। नामसादृश्य से कुछ लोग इनको हर्ष के राजकवि बाण से अभिन्न समझते हैं। परन्तु यह विचार सर्वथा तथ्यहीन है। शृंगारभूषण नामक भाण भी आपकी लेखनी से प्रसूत है। वामन साहित्यचूड़ामणि की उपाधि से विभूषित थे जिससे उनकी साहित्यिक विद्वत्ता का परिचय मिलता है।

जीवराम याज्ञिक—१५वीं शताब्दी ई०

आपने श्रीमद्भागवतपुराण के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण की बाललीलाओं के आधार पर सन् १४८५ ई० में मुरारिविजय नामक नाटक का निर्माण किया था।

गोकुलनाथ—१६वीं शताब्दी ई०

गोकुलनाथ श्रीनगर के शासक फतेहशाह के दरबारी राजकवि एवं मिथिला के शासक महाराज रघुवंश सिंह के समकालीन थे जिनका समय सन् १६१५ ई० है। उन्होंने संस्कृत में कई नाटकों की रचना की है जिनमें विश्ववसु की पुत्री मदालसा के विवाह के अवसर पर रचित मुदितमदालसा नामक रूपक भी है। उनकी नाटक-रचनाओं में अमृतोदय नामक एक रूपकात्मक नाटक सर्वप्रधान है। इस ग्रंथ में जीवात्मा के आवागमन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए सृष्टि के आरम्भ से प्रलय तक की घटनाओं का समावेश किया गया है। इसमें संसार में उत्पन्न होनेवाले क्लेशों के कारण एवं उनसे मुक्ति के साधनों का सुन्दर ढंग से निरूपण है। दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन करते हुए बड़े सुन्दर नाटकीय ढंग से न्याय, वेदान्त एवं सांख्य दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस नाटक में पाँच अंक हैं और प्रत्येक अंक में दर्शन के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का मंडन है और उसी के अनुसार

कवि ने अपनी रचना के अंकों का नामकरण भी किया है, जिनका नाम क्रमशः श्रवणसंपत्ति, मननसिद्धि, निदिध्यासनधर्मसम्पत्, तुरीयात्मदर्शन तथा अपवर्ग-प्रतिष्ठा है।

लक्ष्मण माणिक्यदेव—१६वीं शताब्दी ई०

प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर (१५५६–१६०५) के समय में यह नोआखाली का शासक था। इसने कई नाटकग्रन्थों की रचना की जिनमें केवल दो ही उपलब्ध हुए हैं। कुवलयाश्वचरित में कुवलयाश्व और मदालसा के प्रणयप्रसंग का तथा विख्यातविजय में नकुल और कौरवों के संग्राम का वर्णन समाविष्ट है।

बालकवि—१६वीं शताब्दी ई०

यह कोचीन के शासक रविवर्मा का आश्रित राजकवि था। रविवर्मा के शासनकाल में कुछ विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गयी जिस कारण उसे १५३७ ई० में सिंहासन त्यागना पड़ा। उसके उपरान्त उसका भाई गोदावर्मन गद्दी पर बैठा। बालकवि ने रत्नकेतूदय में रविवर्मा की राज्यत्याग तक की घटनाओं का तथा रविवर्माविलास में राज्यत्याग तथा वाराणसी तक की उसकी तीर्थयात्रा का समावेश किया है।

विल्लिनाथ—१६वीं शताब्दी ई०

यह तंजौर जिले के अन्तर्गत विष्णुपुरम् नामक स्थान का निवासी था। इसकी नाटकरचना मदनमंजरी-महोत्सव का राजा अच्युत के दरबार में सर्वप्रथम अभिनय हुआ था। इस ग्रन्थ में अपने भक्त, पंचाल के अधिपति पराक्रमभास्कर की सहायता के लिए रुद्र मानवीय रूप धारण कर पाटलिपुत्र के शासक चन्द्रवर्मा का विध्वंस करते हैं।

भूदेव शुक्ल—१७वीं शताब्दी ई० का आरम्भ

ये शुकदेव के पुत्र तथा श्रीकंठ दीक्षित के शिष्य थे तथा कश्मीर में जम्बू सरस्

नामक स्थान में निवास करते थे। धर्मविजय नामक पांच अंकों के रूपक में इन्होंने आध्यात्मिक एवं नियमित जीवन के लाभों का चित्रण किया है। औरंगजेब के शासन से खिन्न होने पर ही कवि को इस प्रकार के कथानक का निर्माण करने की प्रेरणा मिली होगी।

सठकोप—१७वीं शताब्दी ई०

ये दक्षिण के अहोविल मठ के ७ वें अधीश्वर थे। इनका आरंभिक नाम तिरुमल्ल था। इन्होंने वसन्तिकापरिणय नामक नाटक में अहोविल नरसिंह तथा वसन्तिका नामक वन की अप्सरा की प्रणय-कथा का अंकन किया है।

कुमार ताताचार्य—१७वीं शताब्दी ई०

ये रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी एवं तंजौर के शासक रघुनाथ नायक तथा विजयराघव नायक की राजसभा में प्रधान पंडित थे। उनका शासनकाल सन् १६१४ ई० से प्रारम्भ होता है। पारिजातहरण की कथा के आधार पर पाँच अंकों में पारिजातनाटक की रचना कर कवि ने अपना रचनाकौशल प्रकट किया है।

रामानुज—१७वीं शताब्दी ई०

ये बाधूलगोत्र में उत्पन्न हुए थे और दक्षिण के निवासी थे। रंगनाथ और वसु-लक्ष्मी के परिणय के आधार पर इन्होंने वसुलक्ष्मीकल्याण नाटकग्रन्थ की रचना की है।

रामभद्र दीक्षित—१७वीं शताब्दी ई०

रामायण की कथा को कल्पना शक्ति के आधार पर परिवर्तित करते हुए रामभद्र दीक्षित ने जानकीपरिणय नामक लोकप्रिय नाटक-ग्रन्थ की रचना की है।

सम्राज दीक्षित—१७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

ये मथुरा के निवासी एवं बुन्देलखण्ड के शासक आनन्दार्य के आश्रित राजकवि थे। इन्होंने सन् १६८१ ई० में श्रीदामचरित नामक एक रूपकात्मक नाटक की रचना की है। इसमें श्रीदामा नामक एक व्यक्ति की जीवन-कथा समाविष्ट है। वह एक विद्वान् दरिद्र व्यक्ति है तथा लक्ष्मी की अपेक्षा सरस्वती की उपासना को ही श्रेयस्कर समझता है। भाग्य उसे सताता है, जिससे उसे कष्टमय जीवन यापन करना पड़ता है। कृष्ण उससे प्रसन्न होते हैं और सरस्वती की भाँति लक्ष्मी भी उसका आश्रय ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार भावमय पात्रों का मानवीकरण इस ग्रन्थ में अंकित है।

भूमिनाथ—१७वीं शताब्दी ई०

भूमिनाथ कौशिक गोत्र में उत्पन्न हुए थे और उनके पिता का नाम बालचन्द्र था। वह नल्लाकवि के नाम से भी विख्यात हैं। उन्होंने रामभद्र दीक्षित से विद्योपार्जन किया था। उन्होंने तंजीरनरेश शाहजी के जीवन के आधार पर धर्मविजयचम्पू ग्रंथ की रचना की है। शाहजी का राज्यकाल सन् १६८४ से १७१० ई० है। अतः नल्लाकवि इसके पश्चाद्वर्ती समय १८वीं शताब्दी ई० में हुए होंगे। उनकी नाटकरचनाओं में चित्तवृत्तिकल्याण और जीवमुक्तिकल्याण रूपकात्मक हैं। शृंगारसर्वस्व भाण उनकी सर्वोत्तम नाटकरचना है जो भाण प्रकार का संस्कृत रूपक है।

इस भाणका कथानक किसी विशेष घटना पर आधारित न होकर एक भावविशेष पर ही है। प्रस्तावना के अनन्तर समस्त ग्रंथ में वक्ता केवल अनंगशेखर है। जैसा कि भाण के नाम से ही विदित हो जाता है, शृंगार रस का विशेष रूप से प्रतिपादन करना ग्रंथकार का मुख्य उद्देश्य है। अनंगशेखर आरम्भ से ही कामुक के रूप में चित्रित किया गया है। वह इधर-उधर विचरण करता है और रमणियों के लावण्य की प्रशंसा करता है। उसकी सम्मति के अनुसार इस दैवी सुन्दरता के आगे प्रकृति में अन्य कोई उत्तम पदार्थ नहीं है।

यही नहीं, रमणी के शरीर के विभिन्न अंग कितने प्रभावशाली हैं और क्या-क्या चमत्कार प्रकट करते हैं, यह भाव प्रकट करते हुए कवि की उक्ति है—

कुचाभ्यामाधत्ते कुलशिखरिकूटस्य विभवं
मुखेनोद्गृह्णाति श्रियमपि शरत्पर्वशशिनः।
अपांगैरब्जानामपहरति सर्वस्वमबला,
बलाद्यूनामन्तःकरणमियमास्कन्दयति च॥—शृंगार० ३७

रमणी अपने मनोरम स्तनों के द्वारा सुमेरु पर्वत के वैभव को धारण करती है तथा मुख से शरत्कालीन सुन्दर चन्द्रमा की शोभा को छीन लेती है। अपने नेत्रों के प्रान्त भाग से वह कमलों की कान्ति को भी हर लेती है। इस प्रकार दुर्बल होती हुई भी वह बलपूर्वक युवकों के अन्तःकरणों को सरलतया जीत लेती है।

(ख) सत्रहवीं शती के बाद

अभी तक हमने भारतवर्ष देश के अर्वाचीन युग अर्थात् सन् १००० और १७०० के मध्य में रचे हुए संस्कृत नाटकग्रन्थों का संक्षेप में अध्ययन किया। मुसलमानों के समय में उर्दू और फारसी राजकीय भाषाएँ रहीं तथा संस्कृत भाषा को उतनी सहायता न मिल सकी जितनी मिलनी चाहिए थी। वे शासक यद्यपि अरब, तातार आदि से आये थे, फिर भी उन्होंने हमारी सभ्यता और संस्कृति को बहुत कुछ सीमा तक अंगीकार कर लिया था। कुछ मुसलमानों ने संस्कृत का सम्यक् अध्ययन भी किया। इस विषय में प्रसिद्ध मुगल सम्राट् औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का अच्छा अभ्यास किया और अन्त में अनुभव किया कि जितनी शान्ति उन्हें उपनिषदों के अध्ययन से प्राप्त हुई उतनी पहले किसी भाँति नहीं हुई थी।

इस प्रकार उक्त शासन में संस्कृत के पठन-पाठन व साहित्य-रचना में किसी प्रकार का अवरोध सम्भव न हो सका। १८वीं शताब्दी के अन्त में संस्कृत का

कितना प्रचार था इस विषय का वर्णन करते हुए "भारत में अंग्रेजी राज" के यशस्वी लेखक सुन्दरलाल ने अपने ग्रन्थ में मैक्समूलर का उद्धरण उपस्थित किया है। उसका भाव इस प्रकार है—

अंग्रेजों का आधिपत्य आरम्भ होने के पूर्व भारत में शिक्षाव्यवस्था बहुत ही सु-व्यवस्थित थी। केवल बंगाल में ८०,००० देशी पाठशालाएँ थीं जिनमें प्राचीन प्रणाली से अध्ययन एवं अध्यापन संपन्न होता था। यह केवल बंगाल का विवरण है। इससे समस्त भारत में तत्कालीन विद्याप्रचार की दशा पर स्वयम् विचार किया जा सकता है।

इस समस्त विवरण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत में ग्रन्थ-निर्माण की परम्परा उस काल में निरन्तर वर्तमान रही। उसके उपरान्त आधुनिक युग में सन् १७०० से अब तक भी संस्कृत नाटकों तथा अन्य ग्रन्थों का निर्माण होता रहा है जिससे प्रतीत होता है कि संस्कृत जीवित-जाग्रत भाषा रही है और रहेगी। इस अध्याय में हम उसका सम्यक् विवेचन करेंगे।

जगन्नाथ—१८वीं शताब्दी ई०

ये नाना फड़नवीस के समय में काठियावाड़ के प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार थे। इन्होंने अलंकार एवम् आभूषणों को भावनगर के शासक बख्तसिंहजी का दरबारी पात्र बनाकर सौभाग्यमहोदय नाटक की रचना की है।

आनन्दराय मखी—१८वीं शताब्दी ई०

इन्होंने विद्यापरिणय नामक एक नाटक की रचना की है। इस ग्रन्थ का मूल रचयिता वेदकवि था जो तंजौर के शासक आनन्दराय मखी या आनन्द-राव पेशवा, तुक्कोजी एवं सरभोजी का दरबारी राजकवि था। उसने पेशवा के नाम से अपने ग्रन्थ को प्रकाशित करना अपनी कीर्त्ति एवं यश का साधन समझा। इन सबका समय १८वीं शताब्दी ई० है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्रंथ की रचना १८वीं शताब्दी ई० में हो चुकी थी।

इस ग्रन्थ में भावात्मक पात्रों के मानवीकरण का रोचक उदाहरण प्रस्तुत

किया गया है। नाटक में जीवात्मा एवं विद्या जैसे गूढ़ तत्त्वों का नायक-नायिका रूप में पात्रीकरण किया गया है और उनके परिणय को लक्ष्य करके ग्रंथ की रचना हुई है। कृष्णमिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय ग्रंथ की रचना कर इस भावात्मक प्रणाली को जन्म दिया है। अतः इस ग्रन्थ पर उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ग्रन्थकार ने आरम्भ में ही इस प्रणाली के जन्मदाता कृष्णमिश्र का सादर उल्लेख किया है। विद्या, अविद्या, निवृत्ति, प्रवृत्ति, विषयवासना आदि भावमय पात्रों का परस्पर इस प्रकार अभिनय एवं संवाद प्रस्तुत किया गया है जिससे अध्यात्म-विद्या, मानव जीवन की निःसारता, संसार की परिवर्तनशीलता जाग्रत हो जाती हैं। ऐसे गूढ़ विषयों का निरूपण करने के लिए कवि ने जीवात्मा, जिसको इस ग्रन्थ में जीवराज कहकर सम्बोधित किया गया है, और विद्या की प्रणय-कथा का रूप देते हुए उसमें श्रृंगारिकता का समावेश किया है। इस प्रसंग में श्रृंगार रस के समाश्रय से पाठकों के हृदय पर असाधारण प्रभाव पड़ता है।

मनुष्यजीवन की निस्सारता और क्षणभंगुरता का कवि ने बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग का वर्णन करते हुए वह कहता है—

"क्षणादूर्ध्वं न तिष्ठन्ति शरीरेन्द्रियबुद्धयः।
दीपार्चिरिव वर्तन्ते स्कन्धाः क्षणविलम्बिनः॥
प्रत्यक्षं जायते विश्वं जातं जातं प्रणश्यति।
नष्टं नावर्तते किं तु जायते च पुनः पुनः॥"—विद्या० ४। १८-१९

इस जीवात्मा में शरीर, इन्द्रिय एवं बुद्धि क्षण भर में ही दीपक की शिखा के समान प्रादुर्भूत हो जाती हैं और क्षण भर में ही विलीन हो जाती हैं। प्रत्यक्ष ही समस्त संसार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है तथा नष्ट होकर पुनः-पुनः उत्पन्न होता है।

मलारी आराध्य—१८वीं शताब्दी ई०

ये शैव मत के अनुयायी एवम् दक्षिण के कृष्णा जिले के निवासी थे। अपने मत

का प्रचार एवम् सर्वोत्तमता सिद्ध करने के लिए इन्होंने शिवलिंगसूर्योदय नामक नाटकग्रन्थ का प्रणयन किया है।

शंकर दीक्षित—१८वीं शताब्दी ई० का आरम्भ

ये बालकृष्ण के पुत्र थे जो व्यासजीवन के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इन्होंने प्रद्युम्नविजय नामक नाटक की रचना की जो पन्ना के राजा सभासुन्दर के राज्याभिषेक के अवसर पर प्रथम बार अभिनीत किया गया था।

जगन्नाथ—१८वीं शताब्दी ई० का आरम्भ

तंजौर के शासक सरभोजी के दरबार में ये राजकवि थे तथा वेंकटेश्वर के समकालीन थे। इन्होंने रति और मन्मथ के प्रेम को लक्ष्य करके रतिमन्मथ तथा वसुमती के परिणय के आधार पर वसुमतीपरिणय ग्रन्थ की रचना की। यह सौभाग्यमहोदय के कर्ता, नाना फड़नवीस के समकालीन जगन्नाथ से सर्वथा भिन्न हैं।

कृष्णदत्त—१८वीं शताब्दी ई०

ये एक मैथिल ब्राह्मण तथा मिथिला के अन्तर्गत त्रमातीय ग्राम के निवासी थे। इन्होने पाँच अंकों में भागवतपुराण के आधार पर पुरंजन की कथा को नाटकीय रूप प्रदान किया है। इनका कुवलयाश्वीय नामक एक सात अंकों का नाटक भी है। इसमें मदालसा तथा एक विद्यार्थी का प्रणयप्रसंग समाविष्ट है।

विश्वनाथ—१८वीं शताब्दी ई०

इन्होंने मृगांकलेखा नामक नाटिका की रचना की है। यह चार अंकों की एक नाटिका है। इसमें आसाम की राजकुमारी मृगांकलेखा तथा कलिंग के अधिपति कर्पूरतिलक की प्रणयकथा समाविष्ट है।

देवराज—१८वीं शताब्दी ई०

ट्रावनकोर के अन्तर्गत ये आश्रम ग्राम के निवासी थे तथा वहाँ के राजा

मार्तण्डवर्मन (सन् १७२९ से १७५८ ई०) के सभापण्डित थे। इन्होंने पाँच अंकों के बालमार्तण्डविजयम् नाटकग्रन्थ में अपने आश्रयदाता मार्तण्डवर्मन की विजययात्रा एवम् समृद्धि का वर्णन किया है।

वेंकट सुब्रह्मण्य—१८वीं शताब्दी ई०

ट्रावनकोर के शासक रामवर्मन का यह राजकवि था जिसका समय १७५८ से १७९६ ई० है। इसने वसुलक्ष्मीकल्याणम् नामक नाटक का प्रणयन किया है।

पेरुसूरि—१८वीं शताब्दी ई०

इन्होने वसुमंगल नाटक की रचना की है। मीनाक्षी और मदुर के महोत्सव पर सर्वप्रथम इसका अभिनय किया गया था तथा इसमें उपरिचित वसु तथा गिरीका की प्रणय-कथा का समावेश है।

रामदेव—१८वीं शताब्दी ई०

ये बंगाल के निवासी तथा वहाँ के प्रसिद्ध ज्योतिषी काशीनाथ के पौत्र एवम् ढाका के शासक यशवन्तसिंह के आश्रित कवि थे, जिसका समय सन् १७३१ ई० है। विद्यामोदतरंगिणी इनका रूपकात्मक नाटकग्रन्थ है। इसमें विविध दार्शनिक विचारों के मण्डकों को पात्र बनाकर दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

विट्ठल—१८वीं शताब्दी ई०

ये दक्षिण में उत्पन्न प्रमुख नाटककार हैं। बीजापुर में सन् १४८९ से १६६० पर्यन्त आदिलशाही वंश का आधिपत्य था। कवि ने उस वंश के इतिहास को नाटकीय रूप प्रदान कर एक छाया नाटक का निर्माण किया है।

पद्मनाभ—१९वीं शताब्दी ई०

ये गोदावरी जिले के अन्तर्गत कोटिपल्ली ग्राम के निवासी थे तथा भारद्वाज

गोत्र में उत्पन्न हुए थे। पौराणिक गाथाओं के अनुसार शिव द्वारा त्रिपुरासुर को विजय करने की कथा के आधार पर इन्होंने त्रिपुरविजय-व्यायोग नाटक की रचना की है।

बल्लिशाय कवि—१९वीं शताब्दी ई० का मध्य

आपके रचे हुए ग्रन्थों में ययातितरुणनन्दनम् नाटक है, जिसमें रुद्रदेव-रचित ययातिचरित के समान महाभारत के ययाति, शर्मिष्ठा और पुरु के प्रसिद्ध आख्यान को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। ययाति यौवनोपभोग की तृष्णा पूर्ण न होने के कारण अपने आज्ञाकारी पुत्र पुरु को वृद्धावस्था देकर स्वयम् यौवन के आनन्द का उपभोग करने लगा। ययाति अपनी इच्छा तृप्त होने पर पुरु को राज्यभार सौंप देता है। कवि ने पाँच अंकों के नाटक रोशनानन्दन में अनिरुद्ध और रोशना की प्रणयकथा को भी नाटकीय रूप प्रदान किया है।

विरारराघव—१९वीं शताब्दी ई० का मध्य

ये तंजौर के निवासी तथा उस प्रदेश के राजा शिवेन्द्र के दरबारी राजकवि थे, जिसका राज्यकाल १८३५ ई० है। रामराज्याभिषेक उनका सात अंकों का एक नाटक है जिसमें रामायण की कथा को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। वालिपरिणय में विरारराघव ने बालि की प्रणयकथा समाविष्ट की है।

रामचन्द्र—१९वीं शताब्दी ई०

ये कुण्डिनीय गोत्र में उत्पन्न हुए थे तथा नौवल कालेज मसुलीपट्टम में संस्कृत के प्राध्यापक थे। इन्होंने शृंगारसुधार्णव नामक एक भाण की रचना की है।

महामहोपाध्याय शंकरलाल—सन् १८४४ से १९१६ ई०

आप काठियावाड़ के परशुमारा नगर के निवासी थे। बाल्यकाल से ही आपने प्रतिभा प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया। अपनी योग्यता के कारण २१ वर्ष की अवस्था में ही आप मोरबी संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल के गौरवमय पद

पर आसीन हुए। आपने संस्कृत में गद्य, पद्य, कथा, नाटक आदि साहित्य के विभिन्न अंगों में अपनी काव्यप्रतिभा का दिग्दर्शन कराया है। आपके रचे हुए नाटक-ग्रन्थों में सावित्रीचरित, ध्रुवाभ्युदय, भद्रयुवराज, वामनविजय, पार्वतीपरिणय आदि प्रसिद्ध हैं।

ईचम्वदी श्रीनिवासाचारी—१८४८ से १९१४ ई०

ये दक्षिण में स्थित अर्काट जिले के निवासी थे। इन्होंने कालिदास के ग्रन्थों एवम् उनके नाटकसाहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। ये गवर्नमेन्ट कालेज कुम्भकोणम् में संस्कृत के प्राध्यापक थे। इन्होंने शृंगारतरंगिणी और उषा-परिणय नामक नाटकों की रचना करके संस्कृत नाटकसाहित्य की वृद्धि की। इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत में गद्य, पद्य एवम् गीत-काव्यों की भी रचना की है जिनका उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

सोंठी भद्रादि रामशास्त्री—१८५६-१९१५

ये गोदावरी जिले के निवासी तथा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्हें उरलाभ तथा लक्कावरम् के जमींदारों के दरबारों में आश्रय प्राप्त था जिससे इनको साहित्य-रचना में सुगमता प्राप्त हुई। मुक्तावल नामक नाटक इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना है।

वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य—१९वीं शताब्दी ई० का मध्य

वैद्यनाथ नदिया के राजा ईश्वरसेन के दरबारी राजकवि थे तथा उनके आज्ञानुसार इन्होंने पाँच अंकों में चैत्रयज्ञ नाटक की रचना की। इसमें दक्ष के यज्ञ के अवसर पर देवताओं के भव्य स्वागत का वर्णन समाविष्ट है।

पेरी काशीनाथ शास्त्री—सन् १८५७ से १९१८ ई०

आप विजयानगरम् के महाराज आनन्द गजपति (सन् १८५१–९७ ई०) के आश्रित राजकवि एवं महाराज संस्कृत कालेज विजयानगरम् में व्याकरण एवं

अलंकार शास्त्र के प्राध्यापक भी थे। आपके रचे हुए ग्रन्थों में पांचालिकारक्षणम् और यामिनीपूर्णतिलक नाटक हैं।

श्रीनिवासाचारी—सन् १८६३ से १९३२ ई०

ये तंजौर जिले के अन्तर्गत तिरुवदी नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। ये राजामदम के एक प्रमुख विद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक भी थे। इन्होंने ध्रुव चरित तथा क्षीराब्धिशयनम् नामक दो नाटकग्रन्थों का प्रणयन किया है।

पंचानन—१९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

ये बंगाल में उत्पन्न संस्कृत नाटककारों में उल्लेखनीय हैं। इन्होंने महाराणा प्रतापसिंह के पुत्र अमरसिंह के जीवन को लक्ष्यकर अमरमंगल नाटक की रचना की है।

मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक—१८८६ ई० से

आपका जन्म नडियाद नगर के प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में ३१ जनवरी सन् १८८६ ई० को हुआ था। बड़ोदा कालेज में अध्ययन करने के उपरान्त आपने सन् १९०७ में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। अपनी असाधारण योग्यता के कारण आप शीघ्र ही राजकीय संस्कृत महाविद्यालय बड़ोदा के आचार्य नियुक्त हुए। आपने तीन रूपकों की रचना की है, जिनके आधार इतिहास के सुप्रसिद्ध आख्यान हैं।

छत्रपतिसाम्राज्य नामक रचना में महाराष्ट्रकेसरी शिवाजी के शासन को दस अंकों में नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। प्रतापविजय के ९ अंकों में मुगल काल में भारतीय मर्यादा की अपने अटल पराक्रम से रक्षा करनेवाले राजस्थान-विभूति महाराणा प्रतापसिंह के जीवन को नाटक का लक्ष्य बनाया गया है। संयोगितास्वयंवर में भारत के वीर सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के जीवन की कतिपय घटनाओं का समावेश किया गया है।

पं० अम्बिकादत्त व्यास—सन् १८५८-१९०० ई०

पं० अम्बिकादत्त व्यास के पूर्वज जयपुर राज्य के निवासी थे। कार्यवश उनके

पितामह वाराणसी में आकर बस गये। व्यासजी बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि थे। प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर वे राजकीय संस्कृत महाविद्यालय पटना में संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए और जीवन के अन्त तक इसी पद पर विभूषित रहे। व्यासजी हिन्दी और संस्कृत दोनों ही भाषाओं के उत्कट विद्वान् थे और उन्होंने सब मिलाकर दोनों भाषाओं में ७५ से अधिक ग्रन्थों की रचना की है।

महाराष्ट्रकेसरी छत्रपति शिवाजी के जीवन को संस्कृत में उपन्यास का रूप प्रदान करके उन्होंने शिवराजविजय नामक गद्यकाव्य की रचना की है। उनकी अन्य रचनाओं में सामवतम् एक मनोहर नाटक है जो साहित्य-रसज्ञों के हृदय में अनुपम रोचकता का संचार करता है।

नाटक का कथानक अत्यन्त मनोरंजक ढंग पर निरूपित किया गया है। सारस्वत और वेदमित्र घनिष्ठ मित्र हैं और यह इच्छा करते हैं कि उनके समान ही उनके पुत्र सामवत और सुमेधा की मैत्री भी सौहार्द्रपूर्ण एवं चिरन्तन हो। दोनों ही अपने पुत्रों के वयस्क हो जाने पर विवाह की चिन्ता करते हैं और उनको अर्थोपार्जन के हेतु विदर्भराज के समीप जाने का आदेश देते हैं। मार्ग में सामवत को मदालसा नामक रूपवती रमणी के दर्शन होते हैं जिस पर ध्यान आकृष्ट होने के कारण वह दुर्वासा मुनि का उचित आतिथ्य सत्कार करने में असमर्थ रहता है। कोपमूर्ति दुर्वासा उसको "तुम कालान्तर में स्त्रीत्व को प्राप्त होगे"—यह शाप देकर अन्तर्धान हो जाते हैं।

इसके बाद कवि ने मार्ग में पड़नेवाले वन, सरोवर एवं प्रकृति के मनोरम चित्रों का निरूपण किया है। उस समय वसन्त ऋतु अवतरित हो चुकी थी जिसकी छवि का कवि ने बड़े मनोरंजक शब्दों में वर्णन किया है। सुमेधा और सामवत के मैत्रीपूर्ण व्यवहार को भी खूब पुष्ट किया गया है। अकस्मात् सामवत अप्सराओं के मध्य में पहुँचता है और स्त्रीत्व को प्राप्त हो जाता है।

कुछ समय बाद सामवत और सुमेधा का साक्षात्कार होता है और सुमेधा अपने मित्र के परिवर्तित रूप को देखकर आश्चर्यान्वित हो जाता है। सामवत कहता है कि वह पुरुष नहीं, अपितु सामवती नामक एक महिला है। इस अवसर पर दोनों एक-दूसरे पर अनुरक्त हो जाते हैं। तदुपरान्त सामवती को किसी कारण-

वश अन्यत्र जाना पड़ता है और सुमेधा अपनी प्रेयसी के विरह में व्याकुल हो करुण विलाप करता है। अन्त में विदर्भराज के दरबार में पुनः उनका समागम होता है और दोनों का एक-दूसरे पर अनुराग प्रकट हो जाता है। राजाज्ञा के अनुसार उनका पावन परिणय पर्व सम्पन्न होता है और वे दोनों अपना शेष जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करते हैं।

अम्बिकादत्त व्यास ने नाटक के कथानक के साथ-साथ प्रकृति-वर्णन, भिक्षुकों की दशा और दरिद्रता से उत्पन्न अनेक बाधाओं का चित्रण किया है। वसन्त ऋतु में प्रकृति की छवि तथा होलिकोत्सव के अवसर पर जन-साधारण का आनन्दोल्लास ग्रन्थ में दर्शनीय है। पशुओं की स्वाभाविक दशा एवं संगीत कला के अतिशय प्रभाव का भी कवि ने मनोरम चित्र खींचा है।

एक वनवासी मुनि के आश्रम में खरगोशों की स्वाभाविक दशा का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है—

श्यामाकशोभिदशनोऽशनमद्य कृत्वा
गच्छत्ययं तु शशकः शशभृत्कलेव।
मन्ये महर्षितनुजाकरलालितोऽस्ति
लोलः कलः पुलकितो ललितः सुलोमा॥—साम० १।५२

श्यामाक नामक धान्यविशेष की शोभा के समान कान्तिवाले दाँतों से कुछ खाता हुआ यह खरगोश सरलतया जा रहा है। महर्षि की पुत्री के हाथों से पोषित होने के कारण ही मानो यह मधुर ध्वनि करता हुआ विचरण कर रहा है।

वसन्त ऋतु के अवसर पर प्रकृति की छवि और विरहीजनों की व्याकुलता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

मधुकरझङ्कृतमधुरः कृतविरहितजनविधुरः।
प्रसरितदक्षिणपवनः मदनमहोत्सवभवनम्।
कोकिलकूजितसहितः शोभनमण्डलमहितः।
हृदयं कुसुमलतावत् कस्य न हरति वसन्तः॥—साम० १।६२

इस ऋतु में भौंरों की मनोहर झंकार से विरही जनों की विरहवेदना तीव्रता को प्राप्त होती है। दक्षिण दिशा की ओर से चलता हुआ वायु का वेग कामदेव के महोत्सव की शोभा को बढ़ाता है। कोयल की मधुर ध्वनि से सुशोभित यह वसन्त ऋतु सभी के मन को लुभायमान कर लेती है।

कथानक के निर्माण में भी कवि को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई है। दुर्वासा मुनि के अक्षम्य शाप के कारण सामवत का स्त्रीत्व को प्राप्त होना नाटक की सर्वप्रधान घटना है। इस अमानुषिक घटना का पाठकों को बोध कराने का कवि का ढंग भी निराला है। एक दरिद्र भिक्षुक दैव से व्याकुल हो एक ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा एवं धैर्य को साथ-साथ ही प्राप्त करता है। वही ब्रह्मचारी को इस दैवी घटना की सूचना इस प्रकार देता है—

> विप्रस्त्रीणां मण्डलीमध्यसंस्थो,
> दुर्गाबुद्ध्या पूजितः पूज्यरीत्या।
> सीमन्तिन्या भक्तिभावप्रभावात् ,
> चित्रं चित्रं सामवान् स्त्रीत्वमाप॥—साम० ४।१२

इस सूचना का भी असाधारण प्रभाव पाठकों के हृदय पर बिना पड़े नहीं रह सकता। मातृपूजन की विधि से पूजित होने के उपरान्त सीमन्तिनी के असाधारण प्रभाव से सामवात अकस्मात् ही स्त्रीत्व को प्राप्त होकर रूपवती सामवती के आकार में प्रकट हुआ। क्या ही आश्चर्य की बात है।

अलंकारों के यथावत् निरूपण में भी कवि ने अपनी अलौकिक रचनाशक्ति का परिचय दिया है। श्लेष एवं यमक अलंकारों का यथावत् प्रयोग हुआ है। कवि अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों पर ही अधिक ध्यान देता है। नाट्य-शास्त्र के आदि आचार्य भरत मुनि के सिद्धान्तानुसार शृंगार रस को नाटक का प्रधान रस बनाने का प्रयत्न किया गया है, यद्यपि इस रस का नाटक में पूर्ण परिपाक नहीं कहा जा सकता। ग्रन्थ के अन्त में सामवती की विरहवेदना के सम्बन्ध में कही गयी सुमेधा की उक्ति इस रस का सुन्दर उदाहरण है। उस समय सुमेधा कहता है —

कदाऽहं कान्ताया नलिननयनायाः करतलं
गृहीत्वा सानन्दं निजकरतलेनातिरुचिरम्।
सुधापारावाराप्लुतमिव मनः स्वं विरचयन्
शचीयुक्तं जिष्णुं चिरमुपहसिष्यामि मुदितः॥—साम० ७।७

किस समय मैं कमलों के समान मनोज्ञ नेत्रोंवाली प्रियतमा सामवती की हथेलियों को अपनी हथेलियों से पकड़कर आनन्द मनाऊँगा और इस प्रकार कब प्रिया इन्द्राणी से युक्त इन्द्र के सुख से भी अधिक आनन्द-महासागर में मनोरंजन करूँगा।

इस प्रकार हमने देखा कि सामवत एक अनुपम नाटक है। वर्तमान काल में रचे हुए नाटकों में इसका विशिष्ट स्थान है। संस्कृत की प्राचीन नाट्यपरम्परा का पालन करते हुए भी इसमें एक मौलिकता का दिग्दर्शन होता है।

वाई० महालिंग शास्त्री

आप आधुनिक काल के विशिष्ट संस्कृत विद्वान् हैं। आपकी जन्मतिथि ३१ जुलाई १८९७ ई० है। इस समय आप वकालत से अवकाश प्राप्त कर तंजौर में साहित्य-सेवा के कार्य में संलग्न हैं। आपने संस्कृत में गद्य, पद्य, नाटक आदि साहित्य के विभिन्न अंगों में रचना कर इसको समृद्ध किया है। कलिप्रादुर्भाव इनका विख्यात नाटक है जो इन्होंने सन् १९५६ ई० में स्वयं प्रकाशित किया था।

ग्रंथ का कथानक बहुत ही मनोरंजक ढंग से महाभारत के आधार पर उद्धृत है। द्वापर के अन्त में कलियुग का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, यह इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय है। कात्यायन नामक ब्राह्मण ऋणों से मुक्त होने की अभिलाषा से एक वैश्य महाजन को अपनी समस्त भूमि बेच देता है। कालान्तर में वैश्य को भूमि से कुछ गुप्त धन की प्राप्ति होती है और वह ब्राह्मण को धन लौटाने की इच्छा प्रकट करता है। कात्यायन बेचे हुए धन पर कुछ अधिकार न समझ ऐसा करने के लिए राजी नहीं होता। मामला मनीषी विद्वानों के निर्णय के हेतु दूसरे दिन के लिए स्थगित हो जाता है। रात्रि में प्रबल झंझावात एवं अग्नि

के दृश्यों के उपरान्त युगपरिवर्तन होता है और कलि स्वयं अपने संदेश की घोषणा करता है।

इस महान् परिवर्तन से ब्राह्मण और वैश्य दोनों ही असाधारण लोभ का अनुभव करने लगते हैं और धन को ग्रहण करने का अकथ प्रयत्न करते हैं। मामला विद्वानों एवं राज्य के अधिकारियों के विचाराधीन हो जाता है। न्यायालय में वैश्य से प्रश्न पूछा जाता है कि धन उसके पास है या नहीं ? उसके निषेधात्मक उत्तर पर उसके घर की तलाशी ली जाती है और धन मिलता है। वैश्य के रहने का घर छोड़कर शेष सम्पत्ति राज्याधीन कर ली जाती है तथा कात्यायन की भूमि उसे लौटा दी जाती है।

इस नाटक की भाषा सरल, स्वाभाविक एवं चित्ताकर्षक है। यद्यपि प्राचीन नाटकग्रन्थों की अपेक्षा इसमें कथानक का निर्माण, भाषा, भाव एवं शैली महत्त्वपूर्ण एवं ओजपूर्ण नहीं है, फिर भी आधुनिक नाटकग्रन्थों में कलिप्रादुर्भाव का स्थान उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

युगपरिवर्तन के अवसर पर भविष्य में होनेवाली सामाजिक दशा का वर्णन करते हुए स्वयं कलि इस प्रकार घोषणा करता है—

अर्था निश्वसितं भवन्तु भविनां लुभ्यन्तु चेभ्याः परं,
सन्तापं समुपाश्रितेषु ददतः कौटिल्यकुल्यायिताः।
संघेष्वाप्तबलोदयाः प्रकृतयो द्रुह्यन्तु वृद्ध्यै मिथः
प्रत्येकं मतिविभ्रमैरगणितैर्धर्मो न निर्णीयताम्॥

—कलि० २।२

इस समय धनोपार्जन ही श्वास के समान लोगों का मुख्य कार्य रहेगा। लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर परस्पर एक-दूसरे को लोभवश कुटिलचक्र में फँसाने का कोई प्रयत्न बाकी न छोड़ेंगे। सहयोग की शक्ति का पूर्ण रूपेण अनुभव करते हुए भी लोग स्वार्थवश परस्पर एक-दूसरे से कलह करने में तनिक भी न झिझकेंगे। लोगों में असंख्यों मतवैपरीत्य होने के कारण धर्म को किसी प्रकार मान्यता नहीं मिलेगी।

नीर्पाजे भीम भट्ट

साहित्यशिरोमणि नीर्पाजे भीम भट्ट आधुनिक शताब्दी के विशिष्ट दाक्षिणात्य संस्कृत विद्वान् हैं। आपका जन्म १० अप्रैल सन् १९०३ ई० को हुआ था। आजकल आप कल्यान की संस्कृत पाठशाला में अध्यापक हैं। आपके पिता नीर्पाजे शंकर भट्ट भी संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे और बाल्यकाल से ही उन्होंने अपने पुत्र को संस्कृत पढ़ने की प्रेरणा दी।

आपने सन् १९५४ ई० में काश्मीरसन्धानसमुद्यम नामक एक एकांकी नाटक स्वयं प्रकाशित किया है।

भारतवर्ष में स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त कश्मीर की समस्या उत्पन्न हो गयी और उसने बड़ा विकराल रूप धारण कर लिया है। समस्त जगत में चिरकाल से यह समस्या राजनीतिज्ञों के विचाराधीन है और अभी तक इसका कोई सुलभ समाधान नहीं प्राप्त हुआ है। इसी समस्या को लक्ष्य करके उक्त नाटक की रचना की गयी है। इस प्रकार एक राजनीतिक समस्या को नाटकीय रूप प्रदान कर आधुनिक संस्कृत में एक नवीन परिपाटी को जन्म दिया गया है।

नाटक के कथानक के अनुसार डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी और उनके साथी आरंभ में वार्तालाप करते हैं और कश्मीर की दैवी छवि का वर्णन करने के बाद उसे भारत का अविभाज्य अंग घोषित करते हैं। पाकिस्तान के प्रथम प्रधानमंत्री नवाबजादा लियाकत अली खां और संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि ग्राहम महोदय का वार्तालाप होता है और पाकिस्तान के पक्ष का प्रतिपादन किया जाता है।

नाटक में ही भारतीय लोकसभा का चित्र खींचा गया है जिसमें श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी आदि का इस समस्या पर विचार-विनिमय हुआ है। राष्ट्रसंघ की नीति को देख कर वे ग्राहम के आगमन को वृथा ही समझते हैं।

इस अवसर पर डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी राष्ट्रसंघ की नीति को समझ जाते हैं और भारतवर्ष के कार्यों में संघ द्वारा हस्तक्षेप करने को अनधिकार चेष्टा बताते हुए इस प्रकार घोषणा करते हैं—

संयुक्तराष्ट्रसमितेरिह नाधिकारः,
कार्योद्यमोऽत्र सुतरामधिकप्रसङ्गः।
अन्धोऽप्यमुं न सहते, किमु पण्डितानां
वृन्दं सहेत? धिगिदं कुटिलत्वमस्याः॥—काश्मीर० ३।१०

इस कश्मीर-प्रसंग में संयुक्त राष्ट्र समिति का कुछ अधिकार नहीं है। उसके कार्य करने की प्रणाली इस प्रकार निन्दित है कि एक मन्दबुद्धि पुरुष भी उसके कुचक्र को समझ सकता है, फिर ज्ञानियों के समुदाय का तो कहना ही क्या।

पंडित जवाहरलाल नेहरू और शेख अब्दुल्ला के परस्पर विचार-विनिमय के उपरान्त नाटक समाप्त होता है।

इस नाटक की भाषा सरल, सजीव एवं चित्ताकर्षक है जो पाठकों के हृदय पर सहज प्रभाव डालती है। नाटक में प्राकृत भाषाओं का किंचिन्मात्र भी प्रयोग नहीं हुआ है तथा स्त्री-पात्रों का नितान्त अभाव है। यद्यपि नाटक अभिनय की दृष्टि से बहुत अधिक मनोरंजक नहीं कहा जा सकता, तथापि संस्कृत नाटकों में इसका स्थान उपेक्षणीय नहीं समझा जाना चाहिए।

एस० एन० ताड़पत्रीकर

एस० एन० ताड़पत्रीकर महोदय पूना के प्रसिद्ध शोधसंस्थान भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के महाभारत-विभाग के अध्यक्ष रूप में बहुत प्रवीण सिद्ध हुए हैं। आधुनिक समय के संस्कृत नाटककारों में उनका प्रमुख स्थान है। १९ नवम्बर १९५४ ई० को उनकी मृत्यु हुई।

सन् १९५१ ई० में उन्होंने विश्वमोहन नामक एक विख्यात नाटक प्रकाशित किया। अंग्रेजी में गोएथेज फास्ट एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। मध्यकालीन यूरोपीय साहित्य पर उसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा है। उसके कथानक के अनुसार डा० फास्ट एक समृद्धिशाली व्यक्ति हैं। किन्तु उन्हें किसी राक्षस के सम्पर्क से समस्त सांसारिक [illegible] में से वंचित [illegible]ोना पड़ता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में मानव-

जीवन की क्षणभंगुरता का सहज परिचय मिलता है। इसी गोएथेज फौस्ट नामक ग्रन्थ के आधार पर ताड़पत्रीकर महोदय ने विश्वमोहन नामक संस्कृत नाटक की रचना की है। मूल ग्रंथ के नायक डा० फास्ट, नायिका मार्गरेट, मध्यस्था मरथन तथा नायिका का भाई वेलेनटाइन है जो कि नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग में बाधक है। इन्हीं चारों पात्रों को विश्वमोहन में सुयोग्य नाटककार ने प्रभाकर, हरिणी, राधा तथा तारक का नाम दिया है। मोहन नायक का मित्र एवं कथानक का प्रमुख संचालक है।

इस नाटक का कथानक बड़े मनोरंजक ढंग पर अंकित किया गया है। आरम्भ में प्रभाकर एक अत्यन्त स्वाध्याय-परायण व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जो शिष्य के साथ विद्याभ्यास एवं धर्मशास्त्रों के पारायण की महिमा का वर्णन करता है। इस समय वह समस्त सांसारिक सुखों से पृथक् रहकर केवल विद्योपार्जन को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। इतने में ही उसके अभिन्न मित्र मोहन का प्रवेश होता है जो उसे समीप में होनेवाले किसी उत्सव में ले जाने का प्रयत्न करता है। बहुत अनुरोध के उपरान्त प्रभाकर जाने को राजी होता है।

मार्ग में प्रभाकर का असाधारण सुन्दरी रमणी हरिणी से साक्षात्कार होता है और प्रथम दर्शन के अवसर पर ही उसे असाधारण आनन्द की अनुभूति होती है। कुछ ही देर में प्रभाकर की विद्वत्ता और असाधारण गाम्भीर्य जनसाधारण की प्रणयचेष्टाओं के रूप में व्यक्त होता है जब कि प्रभाकर और हरिणी का प्रेम लोक में प्रकट हो जाता है।

प्रभाकर अपनी इस मनोव्यथा को अपने अभिन्न मित्र मोहन से व्यक्त करता है जो इस प्रकार प्रयत्न करने को कहता है जिससे हरिणी स्वतः ही प्रभाकर की ओर आकृष्ट हो जाय। जब यह प्रसंग हरिणी के भाई तारक को विदित होता है तब वह अपनी बहिन पर अत्यन्त क्रुद्ध हो जाता है और इस सम्पर्क में किसी से परामर्श न लेने के कारण उसको बहुत कोसता है। इस लोकापवाद से बचने के लिए हरिणी एक बावड़ी में कूदकर प्राणोत्सर्ग करना ही श्रेयस्कर समझती है। उसके बावड़ी में कूदने पर तरल नामक एक मुनि का शिष्य उसके प्राणों की रक्षा करता है।

यह वृत्तान्त जानकर प्रभाकर करुण क्रन्दन करता है। परन्तु अन्त में प्रभाकर, मोहन और हरिणी का मिलन दिखाकर नाटक का सुखान्त पर्यवसान किया गया है।

इस प्रकार एक पाश्चात्य कथा के आधार पर इस ग्रन्थ में जीवन की क्षण-भंगुरता का परिचय दिया गया है। विदेशी ग्रन्थ से प्रभावित होने पर भी ताड़-पत्रीकर महोदय ने कथा का अपने रचना-चातुर्य से इस प्रकार भारतीयकरण किया है कि पाठकों को इसका तनिक भी आभास नहीं हो पाता। भाषा सरल, स्वाभाविक और चित्ताकर्षक है। समास और अलंकारों के प्रयोग में कवि ने अपनी किसी विशेष प्रतिभा का परिचय नहीं दिया है।

नाटकशास्त्र की प्राचीन परम्परा के अनुसार कवि ने शृंगार रस को ग्रन्थ का प्रधान रस बनाया है और स्थान-स्थान पर उसका यथावत् निरूपण किया है। हरिणी के प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर ही उसके लावण्य पर मुग्ध होकर प्रभाकर कहता है—

प्रफुल्लं कासारे सरसिजमिवास्या मुखमिदं,
प्रसन्नं यद्वेन्दोर्वियति विलसन्मण्डलमिव।
शरीरं सुस्पर्शं पृथुकुचनितम्बे त्वतितरं,
स्वयं मुग्धाप्येषा प्रसभमिव हा! भावयति माम्॥—विश्व० २।११

हरिणी का मुख सरोवर में विकसित कमल के समान सुन्दर है अथवा आकाश में लीला करते हुए चन्द्रमण्डल के समान प्रफुल्ल है। जिसके स्तन और नितम्ब भागों का स्पर्श अत्यन्त आनन्ददायक है, ऐसी मुग्ध हरिणी बलपूर्वक मेरे चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

इस ग्रन्थ के अन्त में मानवजीवन की क्षणभंगुरता के विषय में मोहन की यह उक्ति है जिसमें मनुष्य के कर्मों के फलों का निरूपण किया गया है। मोहन कहता है—

स्वर्गे सौख्यततिस्तथा च नरके क्लेशा अनन्ताः किल,
सौख्यं पुण्यकृतां, पतन्ति नरके पापाः स्वकर्मानुगाः।

इत्थं लौकिककल्पना बहुविधा मर्त्येषु सम्मानिता-
स्ताः सर्वा अधिकृत्य जीवनपरो लोकः सदा वर्तते ॥—विश्व० ७।४

जिस प्रकार स्वर्ग में सुख है उसी प्रकार नरक में दुःखदायिनी सामग्री एकत्र संचित रहती है। अपने कर्मों के अनुसार पुण्य कर्म करनेवाले स्वर्ग तथा अधम कर्म करनेवाले नरक के भागी होते हैं। इस प्रकार यदि इस मर्त्य लोक संसार में विचार करके सब लोग कर्म करें तभी संसार का कल्याण सम्भव है।

महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाद दीक्षित—सन् १८७८

पं० मथुराप्रसाद दीक्षित संस्कृत के उन आधुनिक विद्वानों में से हैं जिनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। विदेशियों के सहस्र वर्ष के सतत संपर्क के कारण आधुनिक काल तक संस्कृत का प्रचार पर्याप्त कुण्ठित होता गया, फिर भी इस भाषा की स्वतन्त्र प्रगति को रोकने में कोई भी पूर्णरूपेण समर्थ न हो सका। मुसलिम आक्रमण के अनंतर संस्कृत साहित्य का निर्माण कुछ अवरुद्ध हो गया। उच्च-कोटि के विद्वान् भी मौलिक ग्रंथों की रचना न करके टीकाओं की रचना तक ही सीमित रहने लगे। ऐसे युग में बहुलता से संस्कृत ग्रंथों का सर्जन करना कल्पना मात्र ही प्रतीत होता है।

फिर भी पंडित जी ने कुल लगभग २४ संस्कृत ग्रंथों की रचना की है जो कि आधुनिक संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण रत्न हैं। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण की सिद्धान्तकौमुदी, दर्शन, काव्य, पाली, प्राकृत व्याकरण, वैद्यक, नाटक आदि सभी अंगों में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की है। उनकी काव्य और नाट्य-प्रतिभा का विवेचन करने के पूर्व हमें उनके जीवन का भी संक्षिप्त परिचय कर लेना चाहिए।

आपके पितामह पं० हरिहर दीक्षित अवध प्रान्त के गण्यमान्य वैद्य थे और जनसाधारण में पीयूषपाणि के नाम से विख्यात थे। उनके द्वितीय सुपुत्र पं० बद्रीनाथ दीक्षित की धर्मपत्नी कुन्ती देवी के गर्भ से पं० मथुराप्रसाद दीक्षित का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल ६ सं० १९३५ वि० (सन् १८७८ ई०) में हरदोई जिले के अन्तर्गत भगवन्तनगर नामक ग्राम में हुआ। तेरह वर्ष की अवस्था में आपका

विवाह पं० शिवनारायण पाण्डेय की पुत्री गौरी देवी के साथ सानंद सम्पन्न हुआ। आरंभ से ही अध्ययन के प्रति आपकी प्रगाढ़ अभिरुचि थी और बाल्यकाल से ही आपने अपने साहित्यिक चमत्कार प्रदर्शित करना आरंभ कर दिया था। शास्त्रार्थ करने की आपकी अद्‌भुत प्रणाली का अवलोकन कर आपके सहपाठी एवं अध्यापक गण दंग रह जाते थे।

रीतिकाल के प्रसिद्ध हिन्दीकवि चन्द्रवरदाई ने ऐतिहासिक पृथ्वीराजरासो नामक एक वीर-रसप्रधान काव्य की रचना की है। उस ग्रंथ में भाषा की दुरूहता के साथ-साथ प्रक्षेप भी बहुत अधिक मात्रा में समाविष्ट हो गया है। पंडितजी ने इसका मनन एवं अर्थानुसन्धान करते हुए प्रक्षेपरहित रासो का संपादन किया है और अपनी प्रतिभा के अनुसार उसके वास्तविक अर्थ की व्याख्या करके जनता के समक्ष एक नवीन प्रणाली प्रस्तुत की है। दीक्षितजी के इस प्रतिभासंपन्न कार्य से ही प्रसन्न होकर सन् १९३६ ई० में तत्कालीन भारत सरकार ने उन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि प्रदान कर उनके प्रति उचित गौरव एवं सम्मान का परिचय दिया है। पं० मथुराप्रसादजी ने छः नाटकग्रंथों के अतिरिक्त जिन ग्रंथों की रचना की है उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) कुण्डगोलनिर्णय (२) अभिधान राजेन्द्र-कोष (३) पालीप्राकृत व्याकरण (४) प्राकृतप्रदीप (५) मातृदर्शन (६) पाणिनीय सिद्धान्तकौमुदी (७) कवितारहस्य (८) केलिकुतूहल (९) रोगी-मृत्युदर्पण।

इन सब ग्रन्थों का नाटकों से भिन्न विषयान्तर होने के कारण नामोल्लेख कर देना मात्र ही अलम् है। दीक्षित जी ने जिन नाटक ग्रन्थों की रचना की है वे निम्नलिखित हैं—

वीरप्रताप

मुगल सम्राट् अकबर की कुटिल नीति के कारण राजस्थान के समस्त भारतीय नरेशों ने उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया था। उस समय चित्तौड़ के वर्चस्वी शासक प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह ही एक ऐसे नरेश थे जिन्होंने अकबर की प्रभुता को चुनौती देते हुए भारतवर्ष की प्राचीन वीर-परंपरा की

रक्षा की। महाराणा प्रताप में शौर्य, धैर्य, साहस तथा स्वतन्त्रता के प्रति अनुपम पावन प्रेम दृष्टिगोचर होता है। मथुराप्रसाद जी ने वीर-प्रताप नाटक में इन्हीं राणा प्रताप के जीवन को अपने वर्णन का विषय बनाया है।

आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन करने पर भी इस नाटक में हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष की तनिक भी गंध नहीं आने पायी है। भारतीय इतिहास में अकबर और प्रताप दोनों ही विख्यात महापुरुष हैं। परंतु कवि ने दोनों के व्यक्तित्व एवं चरित्रों में महान् अंतर अंकित किया है। दोनों का नारी जाति के प्रति कितना सम्मान था, इसका कवि ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में निरूपण किया है। अकबर तो प्रताप की पत्नी को हरण करने के लिए सेनापति को आदेश देता है परन्तु प्रताप अपने अधिकार में प्राप्त हुई अकबर की धर्मभगिनी एवं उसके सेनापति की धर्मपत्नी को सम्मानपूर्वक उसके सम्बन्धियों के पास भेजने का अपनी मर्यादानुसार आदेश देता है।

इस नाटक में वीर रस प्रधान है जो कि पाठकों के अन्तःकरण में एक अद्‌भुत शक्ति का संचार करता है। इसके नायक महाराणा प्रतापसिंह तथा प्रतिनायक अकबर हैं। हल्दीघाटी का इतिहास-प्रसिद्ध संग्राम, भामाशाह की अलौकिक स्वामिभक्ति एवं आर्थिक सहायता तथा राज्य की पुनः प्राप्ति इस नाटक की प्रमुख कथावस्तु हैं। हम आशा करते हैं कि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र भारत के भावी नागरिकों में देशभक्ति का संचार करने में अनुपम सहायता प्रदान करेगा।

शंकरविजय

यह एक दार्शनिक नाटक है। दर्शन शास्त्र में पाये जानेवाले सभी मतों का इसमें यथास्थान निरूपण किया गया है और बड़े ही सुन्दर नाटकीय ढंग से उन सब का विवेचन भी समाविष्ट है। ग्रन्थ में वीर रस प्रधान है और अन्य रसों का भी प्रपाणक-रसन्याय से समावेश कर दिया गया है। दर्शन शास्त्र में शब्द के प्रमाणों की उपादेयता कितनी है यह सभी को विदित है। पंडितजी ने इस प्रकरण को इस प्रकार अंकित किया है कि पाठकों के हृदय में सहज ही गुदगुदी उत्पन्न हो

जाती है। ग्रन्थ में हास्य रस की मार्मिक अभिव्यक्ति नाटककार की लेखनी का अलौकिक चमत्कार है।

पृथ्वीराज

यह एक दुःखान्त नाटक है। संस्कृत में सुखान्त नाटक रचने की सार्वभौम परंपरा आरंभ से ही चली आयी है। सुखान्त नाटक रचने में रचयिता का यह उद्देश्य होता है कि दर्शक अन्त में सुखी होकर घर लौटें। परंतु आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् इस पक्ष में नहीं हैं और उन्होंने दुःखान्त नाटकों को ही सर्वोत्तम नाटकों का प्रतिनिधि माना है। इसी प्रणाली से प्रभावित होकर कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की है। मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज का इतिहासप्रसिद्ध युद्ध इस नाटक का प्रमुख विषय है।

भक्त सुदर्शन

भक्त सुदर्शन नाटक में दीक्षितजी ने प्रागैतिहासिक काल की घटनाओं का उल्लेख किया है। इस कृति का आधार कवि की कल्पना न होकर प्रसिद्ध पुराण देवी भागवत के अन्तर्गत तृतीय स्कंध के १४ से २५ पर्यन्त अध्याय हैं। इस कथा में भगवती दुर्गा के माहात्म्य का उल्लेख किया गया है। नाटक का कथानक इस प्रकार है—

कोशल देश में सूर्यवंशीय ध्रुवसंधि नामक प्रतापी सम्राट् राज्य करते थे। उनकी मनोरमा और लीलावती नामक दो पत्नियाँ थीं। मनोरमा ने सुदर्शन और लीलावती ने शत्रुजित् नामक पुत्रों को जन्म दिया। सम्राट् की मृत्यु के अनन्तर राज्य-प्राप्ति के लिए संग्राम हुआ जिसमें दुर्भाग्यवश सुदर्शन का नाना वीरसेन मारा गया। मनोरमा और उसके पुत्र भीषण दुर्दशा में पड़ गये और असहाय होकर महर्षि भारद्वाज के आश्रम में पहुँचे और उनकी शरण ग्रहण की। आश्रम में सुदर्शन ने देवी दुर्गा की आराधना तथा मुनि की परिचर्या दत्तचित्त होकर आरम्भ की। कुछ काल में दोनों ही उससे प्रसन्न हो गये जिसके फलस्वरूप सुदर्शन को एक दिव्य रथ प्राप्त हुआ जो नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से परिपूर्ण था।

कुछ कालोपरान्त सूचना मिली कि काशीनरेश ने अपनी पुत्री शशिकला के लिए उचित वर खोजने के हेतु स्वयंवर रचा है। उसमें देश-विदेश के अनेक नरेश आते हैं और सुदर्शन भी दुर्गा की प्रेरणा से स्वतः पहुँच जाता है। शशिकला स्वयंवर में नाना प्रकार के दोषों का अनुभव करती हुई खिन्न होती है। अकस्मात् सुदर्शन की ओर दृष्टिपात कर उसकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रह जाता और उसे ही वह अपना भावी पति चुन लेती है।

इस परिणय से क्रुद्ध होकर शत्रुजित् अपने चचेरे भाई पर आक्रमण कर देता है। दोनों ही दलों में घमासान संग्राम होता है और अन्त में भगवती चंडिका स्वयं अवतीर्ण होकर शत्रुजित् एवं उसके पक्षपातियों का विनाश सम्पन्न करती है। सुदर्शन इसके उपरांत महर्षि भारद्वाज के आश्रम में जाकर उनकी सपत्नीक चरण-वन्दना करते हुए आशीर्वाद प्राप्त करता है। इसके उपरांत वह अपनी विमाता लीलावती की भी वन्दना करता है। इन समस्त घटनाओं के उपरांत सुदर्शन का राज्याभिषेक समारोह-पूर्वक सम्पन्न होता है। फिर भरतवाक्य के बाद नियमानुसार नाटक की समाप्ति होती है।

इस नाटक में सुदर्शन के चरित्र के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। यह वीर-रसप्रधान ग्रन्थ है और सुदर्शन की उक्तियों के प्रत्येक शब्द में वीर रस की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है। भारद्वाज मुनि के प्रति इसका अनुराग भी अनुकरणीय है। इस नाटक में स्थान-स्थान पर संस्कृत गीतों का भी विशेष रूप से समावेश किया गया है।

गांधीविजय-नाटकम्

इस नाटक का कथानक भी अत्यन्त विस्तृत है। इस ग्रंथ में पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जीवन की कतिपय घटनाओं को नाटकीय रूप प्रदान किया है। महात्मा गांधी द्वारा अफ्रीका में सत्याग्रह आरंभ करने से लेकर भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर्यन्त घटनाओं का इसमें समावेश है। यह दो अंकों का नाटक है। अफ्रीका में गांधीजी ने विदेशियों के अत्याचारों से वहाँ के प्रवासी भारतीयों की किस प्रकार रक्षा की और किस योग्यता से न्यायालय में उनकी

उचित पैरवी की, आदि घटनाओं का इस ग्रंथ में समावेश है। भारत में स्वतन्त्रता-आन्दोलन छिड़ने पर विदेशियों ने हमारे ऊपर जिस प्रकार के अत्याचार किये, उनका भी इसमें संक्षिप्त परिचय कराया गया है। दरिद्र किसानों की दशा का भी रोचक चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

यह एक बहुत छोटा सा नाटक है। तब भी इसमें २४ पुरुष एवं ४ स्त्रीपात्र हैं। संस्कृत नाटकसाहित्य में सदा से ही यह परम्परा चली आयी है कि राजा, विद्वान्, नायक आदि प्रधान पात्र संस्कृत तथा अन्य निम्न पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। दीक्षितजी ने प्राकृत-भाषा योग्य पात्रों से प्राकृत का प्रयोग न करवाकर हिन्दी का ही प्रयोग करवाया है। इस प्रकार उन्होंने प्राकृत का मान हिन्दी को दिया है और वे एक नवीन परम्परा के जन्मदाता सिद्ध हुए हैं।

भारतविजय-नाटकम्

वर्तमान शताब्दी में लिखा हुआ यह संस्कृत का एक सर्वोत्तम नाटक है। महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाद दीक्षित की सर्वोत्कृष्ट रचना के रूप में इस ग्रन्थ के अन्तर्गत उनकी काव्य एवं नाट्यप्रतिभा का पूर्ण परिपाक मिलता है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें सिराज के समय में उनसे अंग्रेजों को बिना कर दिये व्यापार करने की अनुज्ञा प्राप्त करने से लेकर भारत की काल्पनिक स्वाधीनता-प्राप्ति पर्यन्त कथा का समावेश है। पराधीन भारत में विदेशियों से मुक्त कराने की घटना का समावेश करना कवि की अनुपम दूरदर्शिता का परिचायक है। कथानक को देखने से विदित होता है कि इसमें तीन सौ वर्ष के दीर्घ घटनाचक्र को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। प्राचीन संस्कृत नाटकों का अवलोकन करते हुए कथानक की इतनी असाधारण विस्तीर्णता सर्वथा नवीन ही है और कवि की अलौकिक प्रतिभा का परिचय देती है।

दीक्षितजी ने सन् १९३७ ई० में बघाट के अन्तर्गत सोलन में इस नाटक की रचना की। उस समय बघाट वर्तमान हिमाचल प्रदेश के अन्तर्गत एक देशी रियासत थी। जिस समय ग्रंथ की रचना हुई, भारत अंग्रेजों द्वारा निर्मम रूप से पीड़ित हो रहा था। इस ग्रन्थ में अंग्रेजी राज्य में भारत की दयनीय दशा का रोचक चित्रण

किया गया है और अंग्रेजों के चरित्र की भी तीव्र आलोचना की गयी है। नाटक की रचना के थोड़े ही कालोपरान्त इस प्रकार के राष्ट्रीय विचारों का अनुभव कर तत्कालीन विदेशी सत्ता के कान खड़े हो गये और उसने मथुराप्रसादजी की इस भविष्यवाणी को कोरी कल्पनामात्र समझकर पुस्तक की पांडुलिपि ही जब्त कर ली। सन् १९४६ ई० में देश और कांग्रेस का अभ्युदय देखकर पांडुलिपि कवि को वापस दे दी गयी। सन् १९४७ ई० में देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति से कुछ समय पूर्व ही इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण मुद्रित हुआ। इस नाटक में सात अंक हैं जिनका कथानक इस प्रकार है—

प्रथम अंक में प्रस्तावना के उपरान्त एक विदेशी भारत-माता को उसके कष्ट दूर करने का आश्वासन देता है। इधर एक अंग्रेज डाक्टर नवाब की पुत्री की चिकित्सा कर समस्त अंग्रेज जाति को बिना कर दिये बंगाल में वस्त्र-व्यवसाय का एकाधिकार दिलाता है। इस पर प्रसन्न होकर वे हमारे देश के इस व्यवसाय को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं जिसके फलस्वरूप तीन जुलाहों के अंगूठे तक कटवा लिये जाते हैं। यह दुर्दशा देख भारत-माता कारुणिक विलाप करती है और नेपाली सखी उसे सान्त्वना प्रदान करती है।

द्वितीय अंक में अंग्रेज सिराजुद्दौला के समूल विनाश के लिए एक सन्धिपत्र लिखते हैं जिसके पूर्ण होने पर अमीचन्द को तीस लाख रुपये देने का वचन दिया जाता है। इन्द्रिजालिक के रूप में शिवराम सिराजुद्दौला के समीप पहुँचता है तथा अंग्रेजों के सत्तारूढ़ होने का विस्तृत ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत कर उनके बंगाल पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान की सूचना भी देता है। क्लाइव के दूत के कथनानुसार सिराज फ्रान्सीसियों को सहायता देना बन्द कर देता है। फिर भी युद्ध छिड़ जाता है और मीर जाफर सिराज की सहायता की मिथ्या प्रतिज्ञा करता है। सिराज परास्त होता है और मीर जाफर नवाब बनाया जाता है। इस प्रकार अमीचन्द मुँह ताकता ही रह जाता है। सिराज को प्राणदण्ड मिलता है। कुछ काल बाद मीर जाफर को दोषयुक्त बता कर मीर कासिम को नवाब बनाया जाता है।

तृतीय अंक में कम्पनी के अधिकारी मीर कासिम से यथेष्ट धन ग्रहण करते

हैं और भारत-माता की दयनीय दुर्दशा के लिए प्रयत्नशील होते हैं। मीर कासिम माता की सहायता का वचन देता है। अंग्रेजों की नीति के कारण मीर कासिम को उनसे युद्ध करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। मीर कासिम के सैनिक पर्याप्त कौशल प्रकट करते हैं परन्तु परस्पर फूट के कारण उन्हें मुंह की खानी पड़ती है और मीर कासिम अवध में जाकर प्राणों की रक्षा करता है।

चतुर्थ अंक में मिथ्या अभियोग से विवश होकर नन्दकुमार न्यायालय में उपस्थित होता है और उचित प्रमाणाभाव में भी उसका प्राणदण्ड कम्पनी के अधिकारियों के विचाराधीन हो जाता है। एक जासूस भारत-माता की दुर्दशा का वर्णन करता है जिसके उपरान्त हेस्टिग्ज नन्दकुमार के प्राणदण्ड की पुष्टि करता है। धन के लालच में गंगासिंह के परामर्श के अनुसार वह रुहेलखण्ड पर आक्रमण कर देता है तथा वहाँ के नवाब शुजाउद्दौला और बेगमों को लूटकर यथेष्ट धन ग्रहण करता है।

पंचम अंक में आदर्श वीरांगना भारतविभूति लक्ष्मीबाई, उसकी सखी, पाण्डेय और वाजपेयी भारतीय जनता को विदेशियों के विरुद्ध संग्राम के लिए प्रोत्साहित करते हैं और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासियों को अपना ओजोमय संदेश देते हैं। भारत-माता और लम्क्ष्मीबाई का वार्तालाप होता है जब कि महारानी ग्वालियर विजय करने का विचार प्रकट करती है। एक अनुचर अंग्रेजों की विजय का समाचार देता है और सम्राट् बहादुरशाह की दयनीय दुर्दशा की जाती है। लक्ष्मीबाई असह्य वेदना का अनुभव करती हुई अग्नि में प्रवेश करती हैं और भारत-माता कारुणिक विलाप करती है। सम्राज्ञी विक्टोरिया की घोषणा के उपरान्त अंक की समाप्ति की गयी है।

षष्ठ अंक के आरम्भ में कांग्रेस की स्थापना के उपरांत लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और भारत माता के बीच देश की दुर्दशा और वंग-भंग के कारण उत्पन्न विषम परिस्थिति के विषय में वार्तालाप होता है और तिलक माता को मुक्त करने के लिए पूर्णतया प्रयत्नशील हो जाते हैं। खुदीराम को एक यूरोपीय व्यक्ति की और कन्हैयादत्त को नरेन्द्र की हत्या के अभियोग में प्राणदण्ड दिया जाता है। यूरोपीय महायुद्ध के उपरान्त महात्मा गांधी अंग्रेजों से उनकी पूर्व-प्रतिज्ञात स्वतंत्रता

की याचना करते हैं जब कि तत्कालीन सरकार प्रत्येक सम्भव उपाय से देश की इस भावना के दमन के लिए प्रयत्नशील होती है। स्वतंत्रता-संग्राम की कुछ घटनाएँ भी इस अंक में समाविष्ट हैं।

सप्तम अंक में अंग्रेज हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर-विरुद्ध धार्मिक भावना जाग्रत कर फूट उत्पन्न करने के प्रबल इच्छुक हैं। भारत माता उनके अनेक कुकर्मों का उल्लेख करती है। नेताजी सुभाषचन्द्र, पं० जवाहरलाल नेहरू तथा महात्मा गांधी के विशेष प्रयत्नों से भारत माता विदेशी आतंक से मुक्त हो जाती है। महात्मा गांधी यूरोपियन का आलिंगन करते हैं और सब नेतागण मिलकर भारत माता का प्रशस्तिगान करते हैं। स्वर्ग से तिलक जी मृगचर्म और कमंडलु धारण करते हुए अवतरित होते हैं और इस हर्षोत्सव में सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार एक काल्पनिक दृश्य के उपरान्त नाटक की समाप्ति की गयी है।

भारतविजय नाटक में एक अद्भुत नाट्यप्रणाली का समावेश किया गया है जिसके कारण यह समस्त प्राचीन संस्कृत नाटकसाहित्य की अपेक्षा अपनी अलौकिक प्रतिभा प्रकट करता है। ३०० वर्ष के असाधारण दीर्घ घटनाचक्र का समावेश होने के कारण इस नाटक में नायक-नायिका का सर्वथा अभाव है। प्रत्येक अंक के पात्र भिन्न-भिन्न हैं और प्रायः एक अंक में जो पात्र अभिनय करते हैं वे अन्य अंकों में नहीं पाये जाते। ठीक ही है, क्योंकि वे ही पात्र दो ढाई सौ वर्ष नहीं रह सकते। अतएव सब मिलाकर इस नाटक में लगभग १०० पात्र हैं। पात्रों की इतनी बड़ी संख्या किसी अन्य प्राचीन नाटक में नहीं पायी जाती। परन्तु यही भिन्न समयों में जन्मान्तरापन्न हैं, अन्यथा ढाई सौ वर्ष की घटना कैसे अभिनेय हो सकती है। अस्तु, दीर्घ काल का प्रसंग होने के कारण थोड़े पात्रों का समावेश करने से कवि का अभिप्राय सिद्ध नहीं हो पाता। इसी कारण एक मौलिकता का आविर्भाव करते हुए ग्रंथ में पात्र-बहुलता का समावेश किया गया है।

प्राचीन संस्कृत नाटक-साहित्य के अवलोकन करने पर विदित होता है कि महाकवि भास कृत ऊरुभंग ही एक मात्र उपलब्ध दुःखान्त रूपक है जिसमें रंग-मंच पर दुर्योधन की जंघाएँ विदीर्ण की जाती हैं। अन्य ग्रन्थों में पात्रों द्वारा मृत्यु की सूचना दी गयी है। इस नाटक में दो स्थानों पर रंग-मंच पर हत्या का अभि-

नय उपस्थित किया गया है। पंचम अंक में वाजपेयी एक गौरांग की हत्या करता है और छठे अंक में कन्हैया नरेन्द्र का वध करता है। यह दोनों हत्या की घटनाएँ पाठकों के सम्मुख ही प्रस्तुत की जाती हैं। इस प्रकार मृत्यु को रंग-मंच पर उपस्थित कर दीक्षितजी ने प्राचीन परंपरा का उल्लंघन नहीं किया है, क्योंकि प्रतिनायक के वध का निषेध है अन्य का नहीं, स्वतंत्रता-संग्राम के इन विपक्षियों का वध दुःख का सूचक भी नहीं।

भरत मुनि के नियमों के अनुसार नाटक में शृंगार अथवा वीर रस प्रधान होना चाहिए। अतः संवादों के परस्पर वार्तालाप में इतिहास के दीर्घ प्रसंगों का वीरतापूर्ण वर्णन किया गया है। घटना-प्रधान होने पर भी स्थान-स्थान पर करुण और वीर रस का अत्यन्त मार्मिक, रोचक एवं सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अंक में जासूस द्वारा बंगाल में जनता पर कर बढ़ाने की सूचना मिलने पर भारत माता अपने पुत्रों की दुर्दशा पर विलाप करती हुई कहती हैं—

तन्वा शान्त इति प्रमुह्य करुणाक्रान्तात्मनाऽसौ मया,
भस्मच्छन्न इवानलस्तृणचये देशे सुखं स्थापितः।
किं कुर्यां परितो ममापि तनयानयोन्यतो भेदयन्,
प्राणैर्हन्ति नियोजयत्यविनये सर्वात्मना बाधते॥

—भारत० ४।३

मैंने इन विदेशियों की प्रशान्त एवं सौम्य मूर्ति को देखकर दया और प्रेम के वशीभूत हो इनको सुखपूर्वक शरण दी और अपने समीप इस प्रकार भस्म से ढकी हुई अग्नि को घास के ढेर में रख दिया। मैं इस समय किंकर्तव्य हो रही हूँ। मेरे पुत्रों में परस्पर द्वेष उत्पन्न कर एवं फूट डाल उनके प्राणों का अपहरण करना इनका स्वाभाविक कार्य हो गया है। इस प्रकार यह सर्वतोभावेन मुझे नाना प्रकार के कष्ट पहुँचा रहे हैं।

इसी प्रकार भारतविभूति वीराग्रणी आदर्श देशोद्धारिका महारानी लक्ष्मीबाई के अग्निप्रवेश का अवलोकन करती हुई भारत-माता का कथन भी अत्यन्त करुणोत्पादक है। वह कहती है—

पश्येयं घनसारवत्रिजतनुं बालात्मजेकाकिनी,
शौर्येणाशु निपात्य वैरिनिचयं वह्नौ जुहोति स्वयं।
एतेऽनार्यभवाः स्पृशन्तु मम न च्छायामपीत्यात्मनः,
सुनुं साधुपदे निधाय तपनं भित्त्वा प्रलीनात्मनि॥ —भारत० ५।१३

यह मेरी एकाकिनी सुपुत्री लक्ष्मी जिसके एक पुत्र भी है वीरता से शत्रुओं का विनाश कर प्रचण्ड अग्नि में कपूर के समान अपनी कोमल अंगावलि की आहुति चढ़ाने जा रही है। अनार्य अंग्रेज उसकी छाया का भी स्पर्श न कर सकें, इस मनोकामना से अपने पुत्र को साधु के चरणों में समर्पित कर सूर्यमंडल को भेदती हुई वह आत्मा में विलीन हो रही है।

उपर्युक्त श्लोकों में करुण रस का बड़ा ही मर्मस्पर्शी एवं चित्ताकर्षक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। भारत-माता की दुर्दशा एवं लक्ष्मीबाई के अग्निप्रवेश का यह वर्णन पढ़कर कोई भी सहृदय व्यक्ति अश्रु प्रवाहित किये बिना नहीं रहता। करुण रस के साथ-साथ वीर रस का भी पर्याप्त परिपाक भारतविजय नाटक में प्राप्त होता है। पंचम अंक के प्रथम ८ श्लोकों में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, उसकी सखी, वाजपेयी, ताँत्यां भील आदि सैनिक १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के हेतु समस्त देशवासियों एवं पृथक्-पृथक् प्रान्त निवासियों को युद्ध में उद्यत होन के लिए आह्वान करते हैं। ये सभी श्लोक वीर रस के अनुपम उदाहरण हैं।

यह पुनः कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नाटक का कथानक बहुत ही विस्तृत है। पात्रों की असाधारण बहुलता होने पर भी इसमें स्त्री-पात्रों का अपेक्षाकृत बहुत ही कम समावेश किया गया है। स्त्रियों के अभाव के कारण शृंगार रस की व्यंजना भी नाटक में नहीं हुई है। भारत माता, नेपाली सखी, लक्ष्मीबाई और उसकी सखी ही इस नाटक के प्रमुख स्त्री पात्र हैं। नेपाली सखी और भारत-माता ये दो ही ऐसे पात्र हैं जिनके आभास हमें पूरे नाटक में मिलते हैं। शेष पात्रों में अधिकांश ऐसे ही हैं जिनका कार्यक्षेत्र एक या दो अंकों के अन्तर्गत सीमित है। इस नाटक के विद्वान् कर्त्ता की यह एक मौलिकता है जो किसी भी प्राचीन संस्कृत नाटक में उपलब्ध नहीं होती।

इस नाटक की भाषा और शैली बड़ी सरल एवं स्वाभाविक है। अलंकारों के प्रयोग में कवि ने कोई विशेष प्रतिभा का दिग्दर्शन नहीं कराया है। प्राकृत भाषा का अपेक्षाकृत बहुत ही कम प्रयोग हुआ है। इसमें भारत माता की अभिन्न सहेली नेपाली सखी की भाषा उसकी मातृभाषा नेपाली ही है।

दीक्षितजी पर इस नाटक के निर्माण करने में भवभूति के उत्तर-रामचरित और विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक की रचना-शैलियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उत्तररामचरित के समान ही इस नाटक में विदूषक का अभाव है। इस अभाव में भी कथानक के निर्माण में कवि ने पर्याप्त कुशलता प्रकट की है। घटना-प्रधान और असाधारण विस्तृत कथानक का समावेश करने में मुद्राराक्षस की शैली को ही अपनाया गया है। यद्यपि दोनों नाटकों में बहुत ही भेद है, कथानक को अति विस्तीर्ण करने की अभिलाषा कवि को उसी नाटक से प्राप्त हुई प्रतीत होती है।

कतिपय आलोचकों का मत है कि इस नाटक में एक दोष भी पाया जाता है। पात्रों की असाधारण बहुलता एवं कथानक की विस्तीर्णता के कारण यह नाटक अभिनय की दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं है। नाटक का अभिनय अवश्य किया जा सकता है, यद्यपि ऐसा करने में हमें पर्याप्त कठिनाई का अनुभव करना पड़ेगा। परन्तु यदि हम इस विषय में कवि के दृष्टिकोण को अध्ययन करने का प्रयास करें तो यह न्यूनता नगण्य ही प्रतीत होती है। यह ग्रंथ जिस समय रचा गया, हमारा देश विदेशियों द्वारा पदाक्रान्त हो रहा था और उसकी दुर्दशा अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। कवि भारत में अंग्रेज जाति का प्रवेश तथा उसके अत्याचारों का सम्यक् चित्रण कर पाठकों की सहानुभूति भारत माता की ओर प्रेरित करने का प्रबल इच्छुक है। भारत माता की दीन दशा का बड़ा ही सुन्दर निरूपण हुआ है। उस समय जब कि विदेशी सरकार के विरुद्ध एक अक्षर भी कहना अपने को विपत्ति-महासागर में डालना था, इस नाटक के सुयोग्य कवि द्वारा निर्भीकता-पूर्वक इस ग्रंथ की रचना करना एक अलौकिक साहस एवं अपूर्व निर्भयता का परिचायक है। गद्य-पद्य आदि में अपनी रचना न करके काव्य के सर्वोत्तम साधन रूपक को अपने विचार-माध्यम का साधन बनाना ही विद्वान् कवि ने श्रेयस्कर समझा। संस्कृत नाटक-साहित्य के इतिहास में इस नाटक का स्थान सदा ही

स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। हमें आशा है कि यह अपूर्व ग्रन्थ भारत के भावी नागरिकों को वीरता, साहस एवं निर्भयता का सन्देश शाश्वत रूप से देता रहेगा।

पंडित सदाशिव दीक्षित

पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित के ज्येष्ठ पुत्र पंडित सदाशिव दीक्षित भी नाटककार, सुकवि एवं प्रौढ़ समालोचक हैं। आपने भी कई ग्रंथों की रचना कर काव्यक्षेत्र में अपनी कीर्तिकौमुदी प्रकट की है। आपका जन्म कार्तिक कृष्ण ३, सं० १९५५ वि० को हुआ था। इस समय आप सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त कर साहित्य-रचना के क्षेत्र में दत्तचित्त हो रहे हैं।

आपकी रचना सरस्वती एकांकी नाटिका प्रकाशित हुई है। इस प्रकार संस्कृत में एकांकी नाटिका का निर्माण कर आप एक नवीन परम्परा के जन्मदाता सिद्ध हुए हैं। इस ग्रंथ में भारत के सुदूरवर्ती देशों में भारतीय संस्कृति के भग्नावशेष चिह्नों का बड़े ही रोचक ढंग से समावेश किया गया है। स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरान्त संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में कवि ने युक्तिपूर्वक अपना विशेष तर्क उपस्थित किया है। नाटककार का मत है कि आधुनिक काल में भी भारत की यह प्राचीन समृद्धिशालिनी भाषा राष्ट्रभाषा के गौरवान्वित पद पर आसीन हो सकती है। पाणिनि और कुसंगति आपकी अन्य नाटकरचनाएँ हैं।

उक्त महापुरुषों के अतिरिक्त वर्तमान काल में अन्य संस्कृत कवियों ने भी कतिपय नाटकग्रंथों की रचना की है जिससे प्रकट होता है कि इस भाषा की स्वतंत्र प्रगति अभी तक किसी भाँति अवरुद्ध नहीं हुई है। उनका नामोल्लेख मात्र ही यहाँ अलम् है। महामहोपाध्याय श्री हरिदास सिद्धान्तवागीश (सन् १८७६–) ने मेवाडप्रताप, बंगीयप्रताप, विराजसरोजिनी, कंसवध, जानकीविक्रम, शिवाजीचरित की, पिलाई ने भीमपराक्रम की तथा के० एस० रामस्वामी ने रतिविजय की रचना की है।

अनुक्रमणी

प्रधान स्थल एवं पदों का निर्देश